# भारत का सांस्कृतिक विकास

लेखक
शिवशेखर मिश्र
एम०ए० ( अँग्रेजी ), एम०ए० ( भारतीय संस्कृति ),
एम०ए० ( संस्कृत )
प्राच्य ( संस्कृत ) विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक
लखनऊ विश्वविद्यालय

# भारत का सांस्कृतिक विकास

लेखक

शिवशेखर मिश्र

एम०ए० ( अँग्रेजी ), एम०ए० ( भारतीय संस्कृति ),

एम०ए० ( संस्कृत )

प्राच्य ( संस्कृत ) विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक

लखनऊ विश्वविद्यालय

मुद्रक:—नवभारत प्रेस, लखनऊ।
सम्बत्—२०१०
प्रथम संस्करण ११००
मूल्य ३)

# समर्पण

ज्येष्ठ भ्राता

स्वर्गीय डा० चन्द्रशेखर जी मिश्र

की

पुण्य स्मृति को

**सादर एवं सप्रेम**

# दो शब्द

किसी देश अथवा जाति विशेष की संस्कृति के अध्ययन की ओर मनुष्य की जिज्ञासा अतीव स्वाभाविक है और यह पुरातन काल से चली आती है। आज सांस्कृतिक अध्ययन न केवल जिज्ञासा की तृप्ति के हेतु है, वरन् वह शिक्षा का एक आवश्यक अंग समझा जाता है। संस्कृति के स्वरूप में, देश और जातिगत विविधता के साथ साथ कालगत विकास भी देखा जाता है और जहाँ विविधता का अध्ययन रोचक है, वहीं विकास का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

भारतीय संस्कृति के अध्ययन में न केवल भारतीय विद्वानों की ही रुचि है, वरन् विदेशीय विद्वान भी इसमें गहरी रुचि लेकर उतरे हैं। कुछ तो इस संस्कृति से अत्यन्त प्रभावित हैं। मैक्समूलर, ग्रियर्सन, स्मिथ, मैकडानेल, कीथ, परसी ब्राउन, फर्गुसन, क्रामरिश, विन्टरनीज आदि के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। भारतीय विद्वानों ने भी भारतीय संस्कृति के एक या अधिक पक्षों पर लिखा है। डा० राधाकृष्णन, प्रो० हिरिअन्ना, कुमार-स्वामी, डा० पी० के० आचार्य, बरदाचारी, रायकृष्णदास, बलदेव उपाध्याय, शिवदत्त ज्ञानी प्रभृति विद्वानों ने भारतीय संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। परन्तु भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूपों का विभिन्न युगों और कालों में क्या स्वरूप था, इसके क्रमिक विकास का सुचारु रूप से अध्ययन अभी तक देखने में नहीं आया। यह हमारे लिए हर्ष की बात है कि प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक पंडित शिवशेखर मिश्र ने इस कमी को पूरा करने का एक सराहनीय प्रयास किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'भारतीय संस्कृति का विकास' के अन्तर्गत लेखक ने 'संस्कृति और सभ्यता, भारतीय संस्कृति का प्रागैतिहासिक युग में स्वरूप, वैदिक संस्कृति, पौराणिक संस्कृति, जैन-बौद्ध संस्कृति, विदेशों में भारतीय संस्कृति, गुप्त कालीन भारतीय संस्कृति, राजपूत कालीन संस्कृति, भारतीय

कला आदि विषयों पर प्रकाश डाला है। ये विवरण भारत की प्राचीन संस्कृति को स्पष्ट करने में सहायक है।

इस ग्रंथ को लखनऊ विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन के अन्तर्गत हम सेठ केशवदेव सेकसरिया ग्रंथमाला के तृतीय पुष्प के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है कि यह भारतीय संस्कृति के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

डॉ० दीनदयालु गुप्त,
एम्० ए०, डी० लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

दीनदयालु गुप्त

# लेखकीय

मानवता को आत्म-दर्शन के मार्ग की ओर अग्रसर करने वाली भारतीय संस्कृति की धारा भगवती भागीरथी के समान युगों से प्रवाहित चली आ रही है। समय समय पर इस धारा में अनेकानेक नये तत्वों का सम्मिश्रण और समावेश हुआ परन्तु इतना होते हुए भी भारतीय संस्कृति अपनी विशेषताओं और मौलिक प्रवृत्तियों से आज भी सम्पन्न है।

भारतीय संस्कृति के विकास का अध्ययन आज का प्रिय विषय बन गया है, यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों में भी यह अध्ययन का एक प्रमुख अंग बना दिया गया है। इस विषय पर विद्वान लेखकों के ग्रंथ समय समय पर देखने में आते हैं परंतु हिन्दी में इस प्रकार के ग्रंथों की बहुत कमी है। जो कुछ ग्रन्थ हिन्दी में मिलते भी हैं उनमें भारतीय संस्कृति के विकास, आधार तत्वों, ग्रन्थों तथा पंथों का सांगोपांग विवेचन एवं दिग्दर्शन नहीं कराया गया है। कहीं कहीं पर तो केवल प्रमाण रहित कथनों एवं तर्कों का ही आश्रय लिया गया है। संस्कृति के प्रति जिज्ञासा की भावना दिन पर दिन विकासमान है परन्तु जिज्ञासु समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में उपर्युक्त ग्रन्थ पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हैं। इस अभाव की पूर्ति करना ही इस ग्रन्थ की रचना का लक्ष्य है। लेखक अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ है इसका निर्णय विद्वज्जनों पर निर्भर है। इस ग्रन्थ में 'संस्कृति और सभ्यता', 'भारत का प्रागैतिहासिक युग', 'वैदिक सभ्यता', 'रामायण तथा महाभारत', 'पुराण युग', 'गुप्त कालीन भारत', 'राजपूत काल', 'हिंदू धर्म और इस्लाम' आदि विषयों पर वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इन परिच्छेदो में लेखक का विशेष ध्यान विषय के सम्यक् प्रतिपादन के साथ ही साथ सरल भावाभिव्यंजना पर केन्द्रित रहा है। 'षड्दर्शन', 'भक्ति सम्प्रदाय', 'जाति भेद', 'विदेशों में भारतीय संस्कृति', 'भारतीय कला', 'प्राचीन शिक्षा पद्धति' तथा 'भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ' नामक परिच्छेदों में विशेष करके संस्कृति सम्बन्धी सूक्ष्म रहस्यों पर विचार किया गया है।

भारतीय संस्कृति के प्रति लेखक का अनुराग अपने गुरुदेव श्रद्धेय प्रोफेसर को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर महोदय के आशीर्वाद एवं अनुकम्पा का फल है। उनके गहन अध्ययन से लेखक समय समय पर लाभ उठाता रहा है।

ग्रंथ का प्रणयन श्रद्धेय प्रोफेसर डा० दीनदयालु गुप्त एम० ए० डी० लिट् अध्यक्ष हिन्दी विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय की प्रेरणा का प्रतिफल है। उनकी कृपा से यह ग्रन्थ लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो रहा है। इसके रचना काल म लेखक उनके सत्परामर्शों से लाभान्वित हुआ है। प्रेस में भेजे जाने से पूर्व ग्रंथ को आद्योपान्त देख कर, उन्होंने अनेक सुझाव भी दिए। लेखक किन शब्दों में उनकी कृपा का आभार प्रकट करे।

इसके अतिरिक्त डा० अतुलचन्द्र बनर्जी ने 'गुप्त कालीन भारत' तथा 'राजपूत काल', डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने 'भक्ति सम्प्रदाय' और अस्वस्थ होते हुए भी पं० गयाप्रसाद जी दीक्षित ने अधिकांश विषयों को पढ़कर जो अमूल्य सुझाव दिए, उनके लिए लेखक इन विद्वानों का हृदय से आभारी है।

*प्राच्य विभाग*
लखनऊ विश्वविद्यालय

—शिवशेखर मिश्र

# विषय-सूची

| संख्या विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| १—संस्कृति और सभ्यता | १ |
| २—अध्ययन के साधन | ६ |
| ३—सिन्धु घाटी की सभ्यता | ६ |
| समय | १२ |
| जातियाँ | १२ |
| सामाजिक जीवन | १३ |
| आर्थिक दशा | १८ |
| धार्मिक जीवन | २० |
| ललित कलायें | २३ |
| ४—वैदिक साहित्य तथा सभ्यता | २५ |
| ( क ) वैदिक साहित्य | २५ |
| मन्त्र अथवा संहिता काल | २५ |
| ब्राह्मण काल | २६ |
| ब्राह्मण | ३० |
| आरण्यक | ३० |
| उपनिषद् | ३१ |
| सूत्रकाल | ३२ |
| उपवेद | ३३ |
| वेदों का काल | ३३ |
| ( ख ) वैदिक सभ्यता | ३४ |
| सामाजिक जीवन | ३४ |

| संख्या | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| | आर्थिक जीवन .... .... .... | ३९ |
| | धार्मिक जीवन .... .... .... | ४० |
| | दार्शनिक विचार धारा .... .... | ४३ |
| | राजनैतिक जीवन .... .... | ४४ |
| ५—रामायण तथा महाभारत | .... .... | ४७ |
| | रामायण .... .... .... | ४८ |
| | महाभारत .... .... .... | ५० |
| | सामाजिक जीवन .... .... .... | ५१ |
| | धार्मिक जीवन .... .... .... | ५६ |
| | राजनैतिक जीवन .... .... | ५७ |
| ६—पुराण युग | .... .... .... | ५८ |
| | परिभाषा .... .... .... | ५८ |
| | पुराणों में विचित्र वर्णन .... .... | ५९ |
| | समय .... .... .... | ६० |
| | भेद .... .... .... | ६२ |
| | उप-पुराण .... .... .... | ६४ |
| | उपासना पद्धति .... .... .... | ६४ |
| | सामाजिक स्थिति .... .... | ६५ |
| | राजनैतिक स्थिति .... .... | ६६ |
| | मुख्य प्रवृत्तियाँ .... .... .... | ६६ |
| ७—षड्-दर्शन | .... .... .... | ६८ |
| | भारतीय दर्शन का मुख्य ध्येय .... .... | ६८ |
| | न्याय दर्शन .... .... .... | ६९ |
| | वैशेषिक दर्शन .... .... .... | ७१ |
| | सांख्य दर्शन .... .... .... | ७३ |
| | योग दर्शन .... .... .... | ७४ |
| | पूर्व मीमांसा .... .... .... | ७५ |
| | वेदान्त अथवा उत्तर मीमांसा .... .... | ७६ |

| संख्या | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| ८—जैन तथा बौद्ध धर्म | .... .... | ७८ |
| | जैन धर्म .... .... .... | ८० |
| | जैन दर्शन .... .... .... | ८३ |
| | बौद्ध धर्म .... .... .... | ८४ |
| | बौद्ध दर्शन .... .... .... | ८७ |
| ६—भक्ति सम्प्रदाय | .... .... | ८६ |
| | स्वरूप .... .... .... | ८६ |
| | उपाधियाँ .... .... .... | ६० |
| | लक्षण तथा महत्व .... .... | ६१ |
| | नवधा भक्ति .... .... .... | ६२ |
| | प्रचार .... .... .... | ६२ |
| | भागवत सम्प्रदाय .... .... | ६३ |
| | वैष्णव धर्म .... .... .... | ६५ |
| | शैव सम्प्रदाय .... .... .... | ६६ |
| | शाक्तमत .... .... .... | ६६ |
| १०—जाति-भेद | .... .... .... | १०१ |
| | वर्ण-व्यवस्था की प्राचीनता .... .... | १०१ |
| | उत्पत्ति तथा आधार .... .... | १०१ |
| | उद्देश्य .... .... .... | १०५ |
| | लाभ .... .... .... | १०७ |
| | दोष .... .... .... | १०७ |
| ११—विदेशों में भारतीय संस्कृति | .... .... | १०६ |
| | यूनानी दार्शनिक सिद्धान्तों पर भारत का प्रभाव .... | १०६ |
| | साहित्य .... .... .... | १११ |
| | विज्ञान तथा कला .... .... | ११२ |
| | प्रागैतिहासिक युग .... .... | ११२ |
| | तिब्बत .... .... .... | ११४ |

| संख्या | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| | चीन | ११४ |
| | कोरिया तथा जापान | ११४ |
| | ब्रह्मा | ११५ |
| | कम्बोडिया, श्याम तथा अनाम | ११५ |
| | एशिया के दक्षिण-पूर्वी द्वीपसमूह | ११५ |
| | आधुनिक युग | ११६ |
| १२—गुप्त-कालीन भारत | | ११८ |
| | अध्ययन के साधन | ११८ |
| | साहित्य | १२० |
| | विज्ञान | १२३ |
| | सामाजिक जीवन | १२५ |
| | कला | १२६ |
| १३—राजपूत-काल | | १२८ |
| | उत्पत्ति | १२८ |
| | राजनैतिक परिस्थिति | १२९ |
| | सामाजिक परिस्थिति | १३० |
| | धार्मिक परिस्थिति | १३० |
| | साहित्य | १३१ |
| | कला | १३४ |
| १४—हिन्दू धर्म तथा इस्लाम | | १३७ |
| | प्रभाव | १३८ |
| | धार्मिक क्षेत्र | १३८ |
| | साहित्यिक क्षेत्र | १४० |
| | कला ,, | १४३ |
| १५—प्राचीन शासन-व्यवस्था | | १४५ |
| | राज्यशास्त्र के अध्ययन के साधन | १४५ |

| संख्या | विषय | | | पृष्ठ |
|---|---|---|---|---|
| | राज्य की उत्पत्ति | .... | .... | १४५ |
| | राज्य के भेद | .... | .... | १४७ |
| | राज्य के अंग | .... | .... | १४९ |
| | राज्य का उद्देश्य | .... | .... | १४९ |
| | राज्य तथा नागरिक | .... | .... | १५० |
| | समिति, सभा तथा विदथ | .... | .... | १५१ |
| | स्थानीय शासन | .... | .... | १५१ |
| | न्याय-व्यवस्था | .... | .... | १५२ |
| १६ | भारतीय कला | .... | .... | १५४ |
| | अर्थ तथा उद्देश्य | .... | .... | १५४ |
| | कला तथा सौन्दर्य | .... | .... | १५५ |
| | कला तथा जीवन | .... | .... | १५६ |
| | निर्माण विधि | .... | .... | १५६ |
| | उत्पत्ति | .... | .... | १५७ |
| | विभिन्न कलाएँ | .... | .... | १५७ |
| | भारतीय कला की विशेषतायें | .... | .... | १६१ |
| १७ | प्राचीन शिक्षा-पद्धति | .... | .... | १६३ |
| | आदर्श | .... | .... | १६४ |
| | शिक्षण विधि तथा पाठ्यविषय | .... | .... | १६५ |
| | शिक्षा केन्द्र | .... | .... | १६७ |
| | तक्षशिला | .... | .... | १६७ |
| | नालन्द | .... | .... | १६८ |
| | विक्रमशिला | .... | .... | १६९ |
| १८ | भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ | .... | .... | १७१ |

# संस्कृति और सभ्यता

ईश्वर की स्थावर जंगमात्मक सृष्टि के अन्तर्गत प्राणधारी जीवों का उच्च स्थान है। उन प्राणधारियों के बीच में मानवता ही श्रेष्ठ मानी गई है।[1] यह श्रेष्ठता उसकी प्रभु प्रदत्त है जो उच्च आचारों विचारों पर आधारित है। वेद ने भी मनुष्य को 'अमृतस्य पुत्राः'[2] कह कर उसकी श्रेष्ठता को पुष्ट किया है। वास्तव में बुद्धि एवं विवेक पूर्ण होने के कारण मनुष्य ही श्रेष्ठ से श्रेष्ठ आचार विचारों को धारण करने में समर्थ हैं। मनुष्य के द्वारा उपार्जित यही आचार विचारों की परम्परा सभ्यता और संस्कृति को जन्म देती है। आचारों की परम्परा से संस्कृति एवं विचार परम्परा से सभ्यता का जन्म होता है।

मानव की पूर्ण मानवता संस्कृति पर आधारित है जब कि सभ्यता उसके दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखती है। संस्कृति आत्मा से सम्बन्धित है और आत्मा की ही वस्तु है किन्तु सभ्यता उसके वाह्य रूप से सम्बद्ध है। संस्कृति मानव के आत्मिक उत्थान एवं उत्कर्ष द्वारा आत्म दर्शन का मार्ग बताती है जबकि सभ्यता शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।[3] संस्कृति का आत्मा के सात्विक गुणों से सम्बन्ध है। अतः जितना ही सभ्यता मनुष्य को सात्विक बनाने का प्रयत्न करती है उतना ही वह संस्कृति के क्षेत्र में आगे बढ़ता है। सभ्यता अपरा विद्या से सम्बद्ध है तथा संस्कृति परा विद्या से। संस्कृति मनुष्य को अन्तर्मुखी बनाकर उसे आध्यात्मिक उन्नति की ओर

---

१. पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं। सहि नेदिष्ठं पस्पर्श। श० ब्रा०।

२. यजुर्वेद—११। ५—मंत्रांश

"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥"

3. "Civilisation is an expression of flesh, while culture is the manifestation of soul."

प्रेरित करती है, किन्तु सभ्यता उसे प्रकृतिवाद की ओर अग्रसर करती है। इस प्रकार यद्यपि सभ्यता तथा संस्कृति शब्दों में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वे एक से ही प्रतीत होते हैं किन्तु इन दोनों में अन्तर है।

यदि हम यह कहें कि अमुक जाति सभ्य है तो इसका अर्थ यह होगा कि वह जाति अपने प्रति दिन के जीवन में अत्यन्त शिष्ट एवं सुधरे हुए साधनों को प्रयोग में लाती है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसके पास अनेक वैज्ञानिक साधन हैं किन्तु यदि हम कहें कि उस जाति में संस्कृति भी है तो उस समय वाह्य साधनों के साथ ही साथ उसकी मानसिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नति से भी सम्बन्ध होगा।

मनुष्य के अन्दर दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—

(१) पाशविक प्रवृत्ति अथवा पशु धर्म। कुछ विद्वानों का मत है कि मनुष्य का विकास पशु से हुआ है, अतः उसमें पशुधर्म होना आवश्यक है। डार्विन ( Darwin ) का मत इसी बात की पुष्टि करता है।

(२) मानुषिक प्रवृत्ति अथवा पुरुष धर्म। मनुष्य का परम उद्देश्य मोक्ष की ओर अग्रसर होना है। पशुत्व से इसकी पूर्ति नहीं हो सकती। अतः पशु धर्म का दमन कर पुरुष धर्म द्वारा अध्यात्म की जितनी ही वृद्धि की जायगी उतनी ही संस्कृति की वृद्धि होगी।

आत्मा ब्रह्म का अंश होने के कारण पूर्ण है। मनुष्य पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, अतः उसे भी पूर्ण होना अपेक्षित है। किन्तु मनुष्य अपनी इस आन्तरिक एवं वास्तविक पूर्णता को भूलकर अपने को सांसारिक पदार्थों में पूर्ण बनाने की चेष्टा करता है अर्थात् वह अपने को धन, ऐश्वर्य, विद्या आदि से पूर्ण बनाना चाहता है। उसकी यह सांसारिक पूर्णता ही सभ्यता है।

'संस्कृति' शब्द संस्कृत की कृ धातु में सम् उपसर्ग लगाकर सुट् का आगम करके क्तिन् प्रत्यय लगाकर बना है जिसका अर्थ है सम् (सम्यक्) कृति अर्थात सदाचार युक्त सम्यक् कृति। अतः सम्यक् चेष्टा एवं मनुष्य की लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति के अनुकूल आचार विचार को ही संस्कृति कहा जा सकता है। शुक्रनीति के अनुसार विद्या की जो परिभाषा मिलती है उससे भी हमें संस्कृति की परिभाषा का ज्ञान होता है—"**यद् यत् स्याद्वाचिकं सम्यक् कर्म विद्याभिसंज्ञकम्**" अर्थात् 'सम्यक् वाचिक कर्म' ही विद्या है। ऊपर की व्याख्या के अनुसार संस्कृति भी सम् (सम्यक्) कृति (कर्म) है। वाचिक कर्म के मूल में मानसिक कर्म होने तथा उसका उपयोग कायिक कर्मों में होने

के कारण शास्त्रानुमोदित मानसिक, वाचिक एवं कायिक सत्कर्मों को संस्कृति कहा जा सकता है।

'सभ्यता' शब्द भाव (विचार) सूचक 'तल्' प्रत्यय लगाकर बना है। उसकी व्याख्या इस प्रकार है :—

सह भाति सा सभा। सभायां साधुः (निपुणः) सभ्यः। सभ्यस्य भावः सभ्यता।

अर्थात् समान विचार वाले जन समुदाय को सभा कहते हैं और उस समुदाय में निपुण व्यक्ति सभ्य कहलाता है। सभ्य का भाव ही सभ्यता है। कुछ विद्वान इस की व्याख्या इस प्रकार भी करते हैं :—

'सभ्यस्य कर्म वा सभ्यता'

अर्थात् सभ्य के कर्म को सभ्यता कहते हैं।

संस्कृति के लिए अँग्रेजी में 'कल्चर' (Culture) शब्द का प्रयोग होता है जो लैटिन के 'कुल्तुरा' (Cultura) शब्द से ग्रहण किया गया है। कुल्तुरा (Cultura) शब्द का अर्थ है पशु पालना अथवा पौधा लगाना। द्वितीय अर्थ के आधार पर ही कुछ विद्वान Culture अथवा संस्कृति की समानता कृषि से करने लगे हैं।[1]

हमारे भारत में सभ्यता की अपेक्षा सदा से ही संस्कृति को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है क्योंकि भारत विचारशील होने के साथ ही साथ आचार एवं धर्मप्रधान देश है। प्राचीन महर्षिगण आचारों पर ही अधिक बल देते थे, तब विचार तो उनके स्वतः ही उच्च हो जाते थे। बिना संस्कृति की उन्नति किए मनुष्य को आत्मिक शान्ति एवं सन्तोष नहीं प्राप्त हो सकता। सभ्यता का आश्रय ग्रहण कर वह शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। मनुष्य जितना ही सभ्यता की ओर बढ़ेगा उतनी ही उसमें असन्तोष एवं अशान्ति की वृद्धि होने की सम्भावना रहेगी और वह सदा तृष्णा की व्याकुल पिपासा से पिपासित रहेगा। इसी कारण इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर हमारे प्राचीन ऋषिगण ने 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि' का उपदेश दिया जिसका अर्थ है 'तू शरीर नहीं, आत्मा है।' भारतवर्ष की शिक्षा यहीं से प्रारम्भ होती है क्योंकि

---

1.—"Culture is the act of cultivation and the state of being cultivated."

—P. K. Acharya

भारतीय संस्कृति का मुख्य ध्येय ही 'आत्मानं विद्धि' अर्थात् अपने को जानो—है। प्राचीन काल की शिक्षा सभ्यता की अपेक्षा संस्कृति को अधिक दृष्टिकोण में रखकर दी जाती थी। इसी से प्राचीनकाल के आदर्श विद्वान् नंगे सिर, नंगे पैर तथा साधारण वस्त्रधारी होकर मनोविकारों से सन्तप्त जनता को आध्यात्मिक शिक्षा देते थे क्योंकि हमारे पूर्वज इस बात को अच्छी प्रकार जानते थे कि इस शिक्षा का महान् उद्देश्य पशुत्व के कुसंस्कारों को मिटाकर नर-पशु को सच्चा एवं आदर्श मानव बना देना है। अतः इसी उच्च एवं पुनीत, ज्योतिर्मयी, सर्वकल्याणकारिणी संस्कृति के ही आधार पर भारत का महान् गौरव स्थापित है। भारत में सभ्यता संस्कृति की चेरी बनकर काम करती रही है। उसे यहाँ पर स्वामिनी का पद कभी भी नहीं दिया गया है। इसी से विश्व में भारत सुख, शान्ति एवं आनन्द का भण्डार समझा जाता था।

इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में सभ्यता को अधिक ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है। संस्कृति सभ्यता की चेरी बनी रही है। पाश्चात्य देश के व्यक्ति सबको उत्साहित करेंगे, चित्रकारों, कवियों आदि को पुरस्कार देंगे, होटल तथा दुकानों आदि पर शिष्ट भाषा का प्रयोग करेंगे जिसे सुनकर स्वयं ही मुख से निकल पड़ेगा कि ये बड़े सभ्य हैं किन्तु इन सब साधनों का मुख्य ध्येय यही होता है कि सभ्यता के स्वामी 'धन' को प्रसन्न करना तथा दूसरों की जेब से धन बाहर खींचना। उनका सारा प्रयास सभ्यता की उन्नति के लिए प्रकृति के सुखों को लूटना होता है। उनकी प्रवृत्ति प्रधान रूप से बहिर्मुखी होती है। इसी कारण उनकी बातों में सब जातियाँ आ गईं और उन्होंने कच्चे माल की खोज में पूरी पृथ्वी को नष्ट भ्रष्ट कर डाला, यहाँ तक कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने महाभयंकर युद्ध का भी आश्रय लिया किन्तु यह उनकी सफलता केवल बहिर्मुखी एवं क्षणिक है। उसमें कोई गरुआपन नहीं है। वह तथ्यहीन है तथा वायु के एक ही झँकोरे में विलीन हो जानेवाली है। इसके विपरीत हमारी भारतीय संस्कृति के दृढ़ स्तम्भ को हजार क्या करोड़ों झंझावात रंचमात्र भी हिला नहीं सकते। भारत की संस्कृति अनन्त एवं शाश्वत है जब कि पाश्चात्य सभ्यता क्षणभंगुर है।

इस प्रकार संस्कृति तथा सभ्यता में महान् अन्तर होते हुए भी दोनों में दृढ़ सम्बन्ध है। जिस प्रकार शरीर के बिना आत्मा अपनी शक्तियों को प्रदर्शित करने में असमर्थ है और आत्मा के बिना शरीर तुच्छ है, चेतनाहीन है और उसका कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार बिना सभ्यता के संस्कृति

अपने उच्च एवं सात्विक गुणों का परिचय सुचारु रूप से नहीं दे सकती और संस्कृति के बिना सभ्यता भी शून्य तथा चेतनाहीन हो जाती है। यद्यपि दोनों का कार्यक्षेत्र एक ही है किन्तु उसके प्रकार भिन्न हैं। यह दोनों सदैव साथ ही साथ चलते हैं किन्तु एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। संस्कृति यद्यपि सभ्यता की अपेक्षा अधिक ऊँची है किन्तु अपनी उन्नति के लिए उसे सभ्यता की अपेक्षा है। अतः जब सभ्यता संस्कृति की सहायिका बनकर रहेगी तभी मनुष्य प्राकृतिक सुखों का न्यायपूर्वक उपभोग कर सकेंगे और अपने जीवन को स्वर्ग बना सकेंगे।

# अध्ययन के साधन

संस्कृति और सभ्यता के पारस्परिक सम्बन्ध पर दृष्टिपात कर लेने के पश्चात उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करने के साधनों पर भी विचार करना आवश्यक है। भारतीय सस्कृति एवं सभ्यता के अध्ययन के चार प्रमुख साधन हैं:—

१—साहित्य ( Literature )
२—शिलालेख ( Epigraphy )
३—सिक्के ( Numismatics )
४—भग्नावशेष ( Monuments )

1. साहित्यिक सामग्री निम्नलिखित ग्रन्थों द्वारा उपलब्ध होती है :—

१—चार वेद
२—ब्राह्मण
३—आरण्यक
४—उपनिषद्
५—छः वेदाङ्ग
६—रामायण और महाभारत
७—अठारह पुराण
८—स्मृति ( मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि )
९—बौद्ध एवं जैन साहित्य
१०—राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थ-यथा कौटिल्य का अर्थशास्त्र
११—लौकिक संस्कृत साहित्य।

उपर्युक्त भारतीय साहित्य के अतिरिक्त कुछ विदेशी साहित्य भी उपलब्ध है जिससे भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का ज्ञान हो सकता है। भारत में समय समय पर विदेशी यात्री आते रहे और उन्होंने तत्कालीन समाज, राजनीति, धर्म आदि का विशद् वर्णन किया है। इन विदेशी विद्वानों में मेगस्थनीज, ह्वेनसांग, योनच्वांग आदि मुख्य हैं।

२. शिलालेख—

भारत में शिलालेखों की न्यूनता नहीं है। अभी तक जितने भी शिलालेखों की खोज हुई है उससे कहीं अधिक अब भी भूगर्भ में निहित होंगे। प्राप्त शिलालेख चार भागों में विभक्त किये जा सकते हैं:—

१—समर्पणात्मक ( Dedicatory )
२—दानपत्र ( Donatory )
३ स्मारक ( Commemoratory )
४—विविध ( Miscellaneous )

भारतीय संस्कृति के निर्माण के सम्बन्ध में लगभग पाँच हजार शिलालेख प्राप्त हुए हैं। ये मुख्यतया तीन वस्तुओं पर लिखे हुए मिलते हैं:—

१—धातु जैसे ताँबा, सोना, चाँदी, लोहा आदि।
२—पाषाण—जो दो रूपों में प्राप्त हैं :—
क—शिलाफलक ( Slabs )
ख - स्तम्भ ( Pillars )
३—चट्टानें

धातु पर खुदे हुए लेखों में सबसे महत्वपूर्ण लेख लोहे पर खुदी हुई गुप्त कालीन सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की स्मृति म एक कविता के रूप में प्राप्त होता है। अफगानिस्तान में पीतल पर खुदा हुआ एक लेख प्राप्त हुआ है जो सम्भवत: ई० पू० छठी शताब्दी का है। धातु पर खुदे हुए अधिकांश लेख ताँबे पर मिलते हैं जिनमें से कुछ स्मारक के रूप में तथा कुछ दानपत्रों के रूप में हैं।

पाषाण और चट्टानों पर खुदे हुए शिलालेख बहुसंख्या में उपलब्ध हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध सम्राट अशोक के स्तम्भों एवं चट्टानों पर खुदे हुए लेख हैं जो भारत के सभी भागों में फैले हैं।

बहुत सी मिट्टी की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिन पर राजकीय, धार्मिक तथा व्यक्तिगत लेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लेख मिट्टी के पात्रों पर स्याही से लिखे हुए प्राप्त हुए हैं जिनमें सबसे प्राचीन एक मध्यभारत का लेख है जो संभवत: ई० पू० दूसरी या तीसरी शताब्दी का है। अजन्ता की गुफाओं में कुछ चित्रित लेख भी मिले हैं। कुछ लेख ऐसे भी प्राप्त हुए हैं जो ईंटों पर लिखे हुए हैं, जिनका सम्बन्ध पाँचवीं शताब्दी के किसी गुप्तकालीन राजा से है। भारत के पूर्वी और पश्चिमी भागों में दीवालों

तथा गुफाओं में भी कुछ खुदे हुए लेख प्राप्त हुए हैं—उदाहरणार्थ कलिंग के खारवेल का लेख। मूर्तियों के भागों पर भी कुछ लेख प्राप्त हुए ह जसे बुद्ध-गया म महात्मा बुद्ध की विशाल मूर्ति के नीचे खुदा हुआ लेख जो तुरामल नाम के किसी राजा का बतलाया जाता हैं ! इसी प्रकार मथुरा की एक जैन मूर्ति के नीचे एक लेख है।

शिलालेखों की भाषायें—

शिलालेखों की भाषायें विशेष रूप से संस्कृत (यथा गुप्त कालीन शिखालेख), पाली तथा प्राकृत (यथा अशोक के शिलालेख), मराठी तथा दक्षिणी भारत कीं कनाड़ी, मलयालम, तामिल, तेलुगू आदि हैं। इनमें कुछ तो पूर्ण रूप से गद्य अथवा पद्य में हैं और कुछ गद्य पद्य मिश्रित हैं !

३. सिक्के—

भारत म बहुत प्राचीन काल से सिक्कों का प्रयोग होता आया है। इन सिक्कों पर खुदे हुए नाम, तिथि, राजवंश आदि से भारत के सांस्कृतिक इतिहास के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलती है। उन पर चित्रित देवी देवताओं की मूर्तियों से तत्कालीन धार्मिक जीवन का अनुमान हो जाता है। कुछ सिक्कों पर राजा की उपाधियाँ भी लिखी हुई प्राप्त हुई हैं, उनसे भी बहुत कुछ सांस्कृतिक ज्ञान होता है। सिक्कों में प्रयुक्त सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुओं से तत्कालीन आर्थिक जीवन का ज्ञान होता है। स्मिथ नामक इतिहासवेत्ता ने भारतीय सिक्कों को तीन भागों में विभक्त किया है :—

१—उत्तरी भारत के प्राचीन सिक्के

२—मुसलमानी तथा भारोपीय ( Indo-European ) सिक्के

३– दक्षिणी भारत के सिक्के

४. भग्नावशेष—

भग्नावशेष बीते हुए समय के जीते जागते इतिहास हैं। अशोक के शिलास्तम्भ, अजन्ता की गुफायें, साँची के स्तूप तथा अन्य असंख्य भग्नावशेष हमारे प्राचीन पूर्वजों के गौरव का स्मरण कराते हैं। ये भग्नावशेष वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला तथा प्रतिमाओं के रूप में होते हैं !

उपर्युक्त साधनों के आधार पर ही भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का चित्र खींचा जा सकता है।

# भारत का प्रागैतिहासिक युग

## तथा

## सिन्धु-घाटी की सभ्यता

भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का विभाजन दो मुख्य रूपों मे हो सकता है—

१— प्रागैतिहासिक ।

२— ऐतिहासिक ।

भारत के प्रागैतिहासिक युग का अध्ययन आधुनिक विद्वानों ने दो दृष्टिकोणों से किया है :—

१—प्राकृतिक ।

२—मानुषिक ।

प्राकृतिक—

सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी एक जलता हुआ तथा घूमनेवाला आग का गोला था जो सूर्य की ही भाँति प्रकाशमान था । उसको ठंडा होने में बहुत समय लगा । बहुत समय बाद तक भी इस पर किसी प्रकार के जीवन की संभावना न हो सकी । भूगर्भशास्त्रवेत्ताओं ने जीवन के विकास के सम्बन्ध में पृथ्वी को चार कालों तथा अनेक उपकालों में विभक्त किया है । वे चार काल इस प्रकार हैं :—

१—एज़ोइक (Azoic) —अर्थात् वह काल जिसमें पृथ्वी पर कोई भी चेतना न थी ।

२— पैलेज़ोइक (Palaeozoic) अर्थात् वह काल जिसमें जीवन केवल समुद्र के छोटे-छोटे पौधों, मछली, रेंगनेवाले कीड़े मकोड़ों तथा पक्षियों आदि के रूप में था ।

३—मेसोज़ोइक (Mesozoic) अर्थात् मध्य का जीवन।

४ - कैनोज़ोइक (Cainozoic) अर्थात् आधुनिक जीवन-इस काल में विविध प्रकार के दूध पिलाने वाले जानवर (Mammals) की उत्पत्ति हुई जिनसे मनुष्य का विकास हुआ।

इस प्रकार पृथ्वी ज्यों-ज्यों कठोर होती गई त्यों-त्यों पृथ्वी पर जीवन भी अधिकांश रूप में विकसित होता गया। पृथ्वी में अनेक भूकम्प आये जिनसे पृथ्वी फटी और शनैः-शनैः वर्तमान रूप में आई।

**मानुषिक—**

मानुषिक दृष्टिकोण से भारत की प्रागैतिहासिक संस्कृति निम्नलिखित युगों अथवा कालों में विभक्त की जा सकती है —

**१—प्राचीन पाषाण युग (Palaeolithic Age)**

इस काल में एक विशेष प्रकार के कठोर पत्थर के औज़ार बनाये जाते थे जिसे 'क्वार्टज़ाइट' कहते हैं। औज़ारों में हथौड़ा, वन्य पशुओं के आखेट करने तथा काटने आदि की चीजों एवं भद्दे औज़ारों का प्रयोग होता था। इस काल के लोग घास फूस की झोंपड़ी बना कर रहते थे और वनैले पशुओं के मांस का भक्षण करते थे।

**२—नवपाषाण युग (Neolithic Age)**

इस युग में 'क्वार्टज़ाइट' नामक पत्थर की अपेक्षा अन्य पत्थरों का भी प्रयोग होने लगा और पहले से अधिक सुन्दर औजारों का निर्माण होने लगा। इस काल में मनुष्य खेती करते थे और अनाज, फल, फूल आदि पैदा करते थे। ये पशुओं को पालते थे। इनके अतिरिक्त ये लोग मिट्टी के सुन्दर-सुन्दर बर्तन बना कर उन्हें रँगते भी थे। वे सूती तथा ऊनी दोनों प्रकार के कपड़ों की बुनाई करते थे। लकड़ी अथवा बाँस के टुकड़ों को रगड़ कर आग उत्पन्न करने की विधि भी इनको ज्ञात थी। इस काल में मुर्दों को गाड़ने की प्रथा थी जिन पर समाधि भी बनती थी।

**३—ताम्रयुग अथवा धातु-युग (Copper, bronze or metal age)—**

नव-पाषाण युग के बाद मनुष्य ने उस युग में प्रवेश किया जिसमें

उसने धातुओं का भी प्रयोग सीखा। सर्वप्रथम सम्भवतः उसने सोने के प्रयोग को सीखा। तत्पश्चात् उत्तरी भारत में ताँब के औजार आदि बनने लगे। बहुत समय पश्चात् ताँबे के स्थान पर लोहे का भी प्रयोग होने लगा।

भारत की सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण संस्कृति का दृष्टान्त हमें सिन्धु नदी की घाटी में स्थित मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों में प्राप्त होता है। इस सिंधु की घाटी की सभ्यता के विषय में विद्वानों की खोज अभी नवीन ही है। सिंध प्रान्त के लरकाना जिले में स्थित मोहेन-जोदड़ो तथा पञ्जाब के माण्टगुमरी जिले में स्थित हड़प्पा नामक स्थान में खुदाई का बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। ये दोनों स्थान अब पाकिस्तान में हैं। इन स्थानों के अतिरिक्त सिंध तथा बलूचिस्तान के अन्य स्थानों में भी उत्खनन का कार्य हुआ, किन्तु उनमें मोहेनजोदड़ो तथा हड़प्पा की ही खुदाई सबसे मुख्य एवं महत्वपूर्ण है। इस उत्खनन कार्य के द्वारा विद्वानों ने इतिहास के बहुत पूर्व के समय की सभ्यता का ज्ञान प्राप्त किया।

**मोहेन जोदड़ो**—एक पहाड़ी का स्थानीय नाम हैं जो सिंधु नदी और पश्चिमी 'नारा' नहर के मध्य में स्थित है। मोहेन-जोदड़ो शब्द का अर्थ सिन्धी भाषा में मृतकों का टीला हैं। मोहेन जोदड़ों की इमारतें सात तहों में प्राप्त हुई हैं, जिससे विदित होता है कि सात बार इस नगर का विध्वंस होकर पुनः निर्माण हुआ। इस नगर की खुदाई द्वारा विदित होता है कि यह बहुत ही विस्तृत नगर था। इसके भवनों की प्राप्त सात तहों में से सबसे ऊपर वाली तह केवल भिन्न है और शेष तहें समान ही हैं। इसमें अनेक निवास गृह हैं। खूब ऊँचे-ऊँचे प्रासाद तथा दो कक्ष वाले गृह भी प्राप्त हुए हैं। प्रासादों के सम्मुख का भाग ८५ फीट लम्बा तथा १७ फी० चौड़ा है। इनमें २०$\frac{३}{४}$ इंच लम्बी तथा १०$\frac{१}{२}$ इंच चौड़ी ईंटों का प्रयोग है। इस प्रकार इन भग्नावशेषों से यह पूर्ण रूप से ज्ञात होता है कि लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व यहाँ पर एक समृद्धशाली नगर था और यहाँ के निवासी अत्यन्त सभ्य एवं सुसंस्कृत थे।

**हड़प्पा**—नगर की सभ्यता संभवतः मोहेनजोदड़ो के नष्ट हो जाने के कई सौ वर्ष पश्चात् तक स्थित रही होगी क्योंकि इसकी खुदाई में प्राप्त हुवा एक शव-स्थान ही इसका प्रमाण है। श्रीवत्स महोदय [१] ने इस

---

१—**श्री माधवस्वरूप वत्स 'Excavations at Harappa'**

शव-स्थान को मोहेन जोदड़ो की सभ्यता से बाद का ही माना है। शव-स्थान में प्राप्त हुए मिट्टी के बर्तनों से विदित होता है कि उस समय सिंधु घाटी की सभ्यता अवनति कर रही थी, क्योंकि वे बर्तन बड़ी ही असावधानी से बने हुए प्रतीत होते हैं। इस स्थान की प्राप्त हुई खोपड़ियाँ भी अन्य बाहर की जातियों की ही हैं। इसकी खुदाई में प्राप्त हुए भवनों से विदित होता है कि उस समय में लोग पकी हुई ईंटों का प्रयोग करते थे।

**समय—**

सिन्धु नदी की घाटी की सभ्यता के विषय में निश्चित काल का निर्धारण करना कुछ अधिक कठिन नहीं है, क्योंकि इसकी सभ्यता तथा सुमेरु की प्रागैतिहासिक सभ्यता एवं ईरान और मोसोपोटामियाँ की भूगर्भ में स्थित सभ्यता में कुछ साधारण सादृश्य है। सर जाँन मार्शल ने इसकी आयु कुल ५०० वर्ष की मानी और यह सम्भव भी हो सकती है, क्योंकि तक्षशिला के कई नगर ३०० वर्ष के अन्दर ही निर्मित हुए तथा नष्ट हुए। मिस्टर मैके ने मोहेनजोदड़ो के काल को निम्नलिखित आधारों पर विभक्त किया है—

१- प्रारम्भिक युग ( ई० पू० ३२५० )
२—मध्य युग ( ई० पू० ३००० )
३—अन्तिम युग ( ई० पू० २७५० )

इसके अतिरिक्त डॉ० फ्रैंकफोर्ड को टेल आजमर में प्राप्त हुई मुद्रायें शायद सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय की ही हैं। इनमें से एक मुद्रा पर पशु, हाथी, घोड़ा, घड़ियाल, मछली, नीलगाय आदि चित्रित हैं। यह निसन्देह भारतीय मुद्रा है, क्योंकि ये पशु सुमेरु तथा अक्केडियन मुद्राओं में कभी भी नहीं प्राप्त होते। यह मुद्रा जिस तह में प्राप्त हुई है उसकी अन्य वस्तुयें ई० पू० २५०० के लगभग अकड राज्य के समय की हैं। उपर्युक्त इन सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि सिंधु घाटी की सभ्यता आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व की है।

**जातियाँ—**

मोहेन जोदड़ों में प्राप्त मानुषिक चिह्नों से चार प्रकार के नृ-वंशों (Ethnic types) का ज्ञान होता है —

१—मूल आस्ट्रोलायड नस्ल (Proto- Austroloid)—जिसके प्रतिनिधि भारत की निम्नलिखित जातियों में मिलते हैं—

(क) मध्य भारत की आदि जातियाँ—भील, कोल, मुण्डा, भूमिज, बदगा, कोरवा आदि।

(ख) दक्षिणी भारत की चिञ्चु, कुरुम्बा, मलया आदि जातियाँ।

इस नस्ल की जातियों के व्यक्तियों का कद औसत दर्जे का, सामने का निचला भाग बढ़ा हुआ और नाक का सिरा पिचका हुआ होता है।

२—भूमध्य सागरीय नस्ल (Mediterranean type)—जिसका उदाहरण वर्तमान लम्बे सिर वाले व्यक्तियों में मिलता है।

३—अल्पाइन शाखा की मँगोली नस्ल अथवा मँगो-अल्पाइन नस्ल।

४—अल्पाइन नस्ल (Alpine) जिसके प्रतिनिधि वर्तमान काल में चौड़े सिर वाले गुजराती, मराठी तथा बंगालियों में मिलते हैं!

मूल आस्ट्रोलायड नस्ल का सम्बन्ध संभवतः भारत से, भूमध्यसागरीय नस्ल का एशिया के दक्षिणी समुद्रतटों से तथा अल्पाइन और मँगो-अल्पाइन का एशिया के पूर्वी तथा पश्चिमी भागों से रहा होगा। प्रश्न यह उठता है कि क्या सिंधु घाटी के लोग द्रविड़ थे? इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मत भेद है और अभी तक कोई भी निश्चित तथ्य नहीं प्राप्त हुआ है।[1]

सिंधु घाटी की सभ्यता के विषय में दुर्भाग्य वश कोई लिखित प्रमाण नहीं प्राप्त होता। इसी कारण उसके राजनैतिक जीवन के विषय में कोई निश्चित मत नहीं प्रकट किया जा सकता। हाँ जो खुदाई में प्राप्त हुई वस्तुयें हैं वे निश्चय ही उस समय के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन पर प्रकाश डालती हैं।

### सामाजिक जीवन—

खुदाई में प्राप्त हुई वस्तुओं से प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज बड़ा ही उन्नतिशाली एवं समृद्ध था। समाज के निवासियों को सार्वजनिक जीवन के समस्त सुख प्राप्त थे तथा उन्हें प्रत्येक कार्य करने की सभी सुविधायें थीं। उनका जीवन बड़ा ही ऐश्वर्य पूर्ण था।

---

१—जातियों के विशेष विवरण के लिये देखिए लेखक की "भारतीय संस्कृति में आर्येतराश" (ल० वि० द्वारा प्रकाशित)

खानपान—

मोहन जोदड़ो की खुदाई से विदित होता है कि उस समय के निवासी गेहूँ, जौ, चावल आदि का प्रयोग करते थे। हड़प्पा के निवासी तो फलियाँ, खजूर, तिल तथा तरबूज आदि का भी सेवन करते थे। खजूर के बीज तो हड़प्पा में प्राप्त बर्तनों पर चित्रित हैं किन्तु यहाँ खजूर के बीज नहीं प्राप्त हुए हैं। उस समय एक लम्बे नीबू का भी प्रयोग लोग करते थे, क्योंकि लम्बे नींबू की आकृति का झुमका प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति खाने के साथ दूध, घी, हरी तरकारी, शाक, भाजी का प्रयोग करते थे। सुन्दर-सुन्दर मिठाई भी खाई जाती थीं। रोटी साँचे के द्वारा बनाई जाती थी, क्योंकि रोटी बनाने के साँचे प्राप्त हुए हैं। मसाला पीसने के लिये सिल और लोढ़े का प्रयोग होता था, क्योंकि मोहेन जोदड़ो में कई सिल तथा लोढ़े प्राप्त हुए हैं। उस समय अनाज ओखलियों में कूटा जाता था और आटा पीसने के लिये पट्टियाँ भी थीं। अनाज रखने के लिये गोदाम थे। बड़े-बड़े घड़ों में अनाज रखा जाता था। ये घड़े किसी आधार पर रख कर जमाये जाते थे क्योंकि इनके नीचे का भाग समतल नहीं होता था। उस समय के घड़ों के गलों में छिद्र होते थे जिससे विदित होता है कि ये घड़े बाँध कर लटकाये भी जाते थे। निर्धन व्यक्ति जमीन में गड्ढे खोद कर और उसे लीप कर अनाज रखते थे।

मोहेन जोदड़ो तथा हड़प्पा के निवासी गाय, सुअर, घड़ियाल, कछुए तथा भेड़ आदि का मांस भी खाते थे। मछली के मांस का विशेष रूप से प्रयोग होता था। सूखी तथा ताजी दोनों प्रकार की मछलियों का मांस खाया जाता था। ताजी मछलियाँ सिन्धु नदी से और सूखी मछलियाँ समुद्र से लाते थे। चकमक पत्थर के बने हुए औजार द्वारा मांस काटा जाता था। हड़प्पा तथा मोहेन जोदड़ो की खुदाई में बहुत से प्याले, थाली, चम्मच तथा तश्तरियाँ आदि भी प्राप्त हुई हैं, जिनसे विदित होता है कि उस समय के नागरिकों का जीवन अत्यन्त उन्नतिपूर्ण था और वे लोग विवाह एवं उत्सव के समय अपने हितैषी तथा मित्रों की खूब दावत भी करते थे। दावत में शाक भाजी, दाल आदि तश्तरियों में ही परोसी जाती थी। इसके अतिरिक्त कुछ छिद्रदार बर्तन भी प्राप्त हुए हैं जो हाथ धोने के लिये प्रयोग में लाये जाते होंगे। उस समय पीतल तथा ताँबे के बर्तन भी प्रयोग में लाये जाते थे। धनी व्यक्ति चौकियों पर बैठ कर भोजन करते थे।

## वेशभूषा—

मोहेन जोदड़ो की खुदाई में प्राप्त वस्तुओं में वेशभूषा सम्बन्धी अधिक सामग्री नहीं प्राप्त होती। हाँ, कुछ खण्डित मूर्तियाँ तथा खिलौने अवश्य प्राप्त होते हैं, जिनसे उस समय की वेशभूषा के विषय में ज्ञान हो सकता है। उस समय सूती कपड़ों का प्रयोग सभी व्यक्ति करते थे। स्त्रियाँ एक प्रकार का शिरोवस्त्र धारण करती थीं जो नारे द्वारा पीछे से बांधा जाता था, किन्तु यह शिरोभूषा उन्हीं मूर्तियों पर हैं जिन्हें मातृदेवी माना जाता था। शीत से बचने के लिये शरीर पर संघाटी (एक प्रकार का वस्त्र) धारण की जाती थी। पुरुष एक लम्बे दुशाले की भाँति का वस्त्र अपने दाहिने कंधे के नीचे से ओढ़ते थे जिससे दाहिना हाथ काम करने के लिये खुला रहे। नीचे के भाग में पहनने के लिये भी एक प्रकार के दुशाले का प्रयोग होता था जो लपेट कर पिन से बाँधा जाता था। शरीर पर धारण करने का बाहरी वस्त्र सिला नहीं जाता था। वह पिनों द्वारा ही बाँधा जाता था। वस्त्रों में बटन भी लगाये जाते थे जो बीच में गुम्बद के आकार के होते थे। खुदाई के समय बहुत से गड़े हुए मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं जिनमें रंग भरा था जिससे विदित होता है कि उस समय कपड़े रंगने का भी रिवाज था। शीत काल में कम्बल की ही भाँति का एक वस्त्र ओढ़ा जाता था। धनी व्यक्ति खूब सुसज्जित कपड़ों का प्रयोग करते थे। उस समय के व्यक्ति भाँति-भाँति के बाल बनाना भी जानते थे। स्त्रियाँ बालों को पीछे ले जाकर जूड़ा तथा वेणी बाँधती थी। वे बालों में काँटे भी लगाती थीं, जिनके सिरे पर पशु आदि के चित्र बने रहते थे। बालों को कटवाने ( बाब्ड ) का भी रिवाज था। बालों को बुने हुए नारे द्वारा बाँधा जाता था। धनी लोग सोने के बने हुए नारों द्वारा बाल बाँधते थे जो १६ इंच लम्बे और ½ इंच चौड़े होते थे। पुरुष छोटी-छोटी दाढ़ी रखवाते थे। मूंछें मुड़वाने की भी प्रथा थी। कुछ व्यक्ति बड़ी दाढ़ी रखते थे जिसमें मरहम तथा खिजाब भी लगाते थे। सिर भी मुड़ाया जाता था जिसके लिये उस्तरे की भाँति के एक औजार का प्रयोग होता था, जिसके दोनों ओर धार रहती थी।

## आभूषण—

उस समय सभी व्यक्ति आभूषणों से प्रेम करते थे। स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुष तथा बच्चे भी आभूषण धारण करते थे। स्त्रियाँ विशेषत:

हार, सिरबन्द, बाजूबन्द, करधनी, पायजेब आदि का प्रयोग करती थीं। गले में हँसली भी पहनी जाती थी। कई लड़ों की मालायें बनती थीं। पुरुष भी हार तथा अंगूठी आदि पहनते थे। आभूषण रखने के लिये शृंगार-दान होते थे। आभूषण बनाने में सोना, चाँदी, रत्न, हाथी दाँत आदि का प्रयोग विशेष रूप से होता था। निर्धन व्यक्ति अपने आभूषण ताँबा, घोंघा, हड्डी तथा पक्की मिट्टी के बनवाते थे।

**रहन सहन—**

उस समय के व्यक्तियों का जीवन बड़ा ही व्यवस्थित था। उनके रहने के लिए विशाल भवन थे जो दो या दो से अधिक मंजिलों तक भी होते थे। इनमें खिड़कियाँ, दरवाजे, फर्श, आँगन, सीढ़ियाँ आदि सब कुछ थे। प्रत्येक घर में कुआँ, नालियाँ, और स्नानागार होते थे। लोग अपने घर को अनेक शृंगार की वस्तुओं द्वारा सजाते थे। घर में प्रकाश करने के लिये मोमबत्ती तथा चिराग का प्रयोग होता था। हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त हुई इमारतों में लैम्प रखने के लिये स्थान बने हुए हैं।

हड़प्पा में ताँबें की एक सुन्दर गाड़ी प्राप्त हुई है, जिससे विदित होता है कि गाड़ी तथा रथ की सवारी भी लोग करते थे। बैल गाड़ी भी उस समय में थी जिसे बैल ही खींचते थे।

स्त्रियाँ पुरुषों से पर्दा न करती थीं, क्योंकि उस समय की इमारतों से ज्ञात होता है कि पर्दे का विशेष ध्यान रखकर उनका निर्माण न हुआ था। उस समय के व्यक्ति सफाई की ओर अधिक ध्यान देते थे। गन्दे पानी को बहाने के लिये पक्की नालियों का प्रबन्ध था। स्थान स्थान पर कूड़ा फेकने के लिये पीपे आदि रखे जाते थे। सड़कों का समुचित प्रबन्ध होता था और मकान ठीक स्थान पर बनवाये जाते थे। सारे नगर में स्वास्थ्य तथा सफाई का प्रबन्ध करने के लिये म्यूनिसिपल बोर्ड भी था। मोहेन-जोदड़ों में एक भवन इस प्रकार का प्राप्त हुआ है जिसमें एक बड़ी दुकान थी और वह सारा घर कुछ भागों में बँटा हुआ था जिससे विदित होता है कि अनेक परिवार एक ही घर में रहते थे। एक स्नानागार के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो अनेक प्रकोष्ठों में विभक्त प्रतीत होता है।

**मृतक-संस्कार—**

मृत्यु के पश्चात् दाह-क्रिया सर्वोत्तम संस्कार माना जाता था, क्योंकि

मोहेन जोदड़ो में कोई भी श्मशान अथवा शवस्थान नहीं प्राप्त हुआ। हड़प्पा में एक शव-स्थान प्राप्त हुआ है यद्यपि सर जॉन मार्शल उसे बाद का बताते हैं। इसको देखने से विदित होता है कि शव के संस्कार तीन प्रकार से किये जाते थे—

१—पूर्ण शरीर को गाड़कर

२—हड्डी अथवा शरीर के कुछ अंशों को गाड़कर

३—शव को जलाकर अस्थि-पुष्पों को गाड़कर

किसी आकस्मिक दुर्घटना एवं रोग से मृत्यु होने पर शव को गाड़ दिया जाता था। शव को आभूषणों सहित गाड़ने की भी प्रथा थी। शव को रखने के लिये मृतक पात्र तथा अन्य सामान भी थे।

## मनोरंजन—

समाज में उस समय मनोरंजन के अनेक साधन थे। फलकों पर खेले जानेवाले चौपड़, पाँसा, शतरंज आदि खेल खेले जाते थे जिनमें मिट्टी से लेकर मूल्यवान पत्थर तक की गुट्टियों का प्रयोग होता था। मोहेनजोदड़ों की खुदाई की सभी तहों में पाँसे प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा में भी पांसे का खेल प्रचलित था। यहाँ के पांसे फियास (मिट्टी) तथा पत्थर के होते थे। कुछ संगमरमर की गोटें प्राप्त हुई हैं जिनसे विदित होता है कि जुआ का भी प्रचलन था।

बच्चों के मनोरंजन के लिये अनेक प्रकार के खिलौने थे, जिनमें सभी प्रकार के पशुओं के आकार के लकड़ी, पत्थर आदि के खिलौने और अनेक सीटियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो मुर्गी तथा नाशपाती के आकार की होती थीं और उनमें छेद भी होता था। इसके अतिरिक्त मिट्टी के भुनभुनों तथा पक्षियों द्वारा भी बच्चों का मन प्रसन्न किया जाता था। मोहेनजोदड़ो में बौने भी हास्य-पूर्ण अभिनय द्वारा व्यक्तियों का मनोविनोद करते थे। छोटेछोटे बच्चे परस्पर गुड्डा गुड़िया के भी खेल खेलते थे।

## शिकार तथा अस्त्र शस्त्र—

शिकार द्वारा भी व्यक्तियों का मनोरंजन होता था। हरिणों का शिकार विशेष रूप से किया जाता था। शिकार खेलने में धनुष और गुलेल का प्रयोग होता था जिनमें हाथ द्वारा बनाई हुई गोलाकार और अंडाकार गोलियों

का प्रयोग किया ज ता था। मछली का शिकार काँटों एवं जालों द्वारा किया जाता था। इसके अतिरिक्त हथियारों में भाला, तलवार, गदा आदि का प्रयोग विशेष रूप से होता था।

लिपि—

पढ़ने एवं लिखने का ज्ञान भी उस समय के लोगों को था। कौन कौन सी भाषायें एवं लिपियाँ उस समय प्रचलित थीं, इस विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं। मिस्टर हंटर का मत है कि सिंधु लिपि संकेतात्मक है। प्रोफेसर लैंग्डन के मतानुसार ब्राह्मी लिपि सिंधु लिपि से ही निकली है। के० पी० जायसवाल का मत है कि इनके बीच में विक्रमखोल की लिपि रही होगी। कुछ भी हो सिंधु प्रांत की लिपि संभवतः तीन भागों में विभक्त थी—

१—अक्षर ( Syllables )
२—पदार्थ चित्र ( Ideogram )
३ – निर्धारक ( Determination )

इनमें से कोई न कोई चिन्ह प्रत्येक मुद्रा पर अंकित रहता था। किसी मुद्रा पर उपर्युक्त दोनों ही चिह्न रहते थे। चिह्नों द्वारा अर्थ को पूर्ण रूप से समझने के लिये पदार्थ चिह्नों तथा निर्धारकों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता था। प्रायः लिपि के अन्त में यह सभी चिह्न रहते थे क्योंकि मध्य में इन चिह्नों के आ जाने पर शब्द विभाजन समझा जाता था। भारत के प्राचीनतम सिक्कों पर भी सिंधु लिपि से ही चिह्न प्राप्त होते हैं।

आर्थिक दशा—

सिंधुघाटी की आर्थिक दशा बहुत ही अच्छी थी। वहाँ पर्याप्त वर्षा होती थी जिससे खूब बड़ा बड़ा गेहूँ अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न होता था। इसके अतिरिक्त अन्य अनाजों की भी उत्पत्ति खूब होती थी। उन लोगों के पास प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय करने के साधन थे तथा व्यापार भी खूब होता था जिसके कारण सिन्धु प्रदेश उस समय बड़ा ही धन-धान्य पूर्ण था।

व्यवसाय—

उस समय सभी प्रकार का व्यवसाय होता था। कपड़े बिनने तथा

रुई कातने का कार्य अमीर तथा गरीब सभी प्रकार के व्यक्ति करते थे। स्वर्गीय रा० ब० दयाराम सहानी ने १९२६ ई० की खुदाई में सूत का बुना हुआ कपड़ा प्राप्त किया जो एक कलसी के ऊपर लपेटा था जिसमें अनेक अमूल्य आभूषण भी थे। इसके अतिरिक्त पतली लकड़ी तथा घास की भी बुनाई होती थी। मिट्टी का काम भी खूब होता था। मिट्टी के बड़े सुन्दर सुन्दर बर्तन, खिलौने तथा प्रतिदिन आवश्यकता में आनेवाली वस्तुओं का निर्माण होता था। ताँबें, पीतल आदि के बर्तन तथा अन्य वस्तुएँ भी बनती थीं। लकड़ी का काम भी होता था। लकड़ी से मेज, कुर्सियाँ, तख्त आदि बनाये जाते थे। उस समय के व्यक्ति अधिकतर सोना, चांदी, तांबा, पीतल, टीन, शीशा, कांसा आदि धातुओं का तथा हथियारों को बनाने में विशेष रूप से पत्थर, हाथी दाँत, तथा हड्डी का प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त वे लोग गेहूँ, जौ, कपास एवं खजूर आदि की खेती प्रचुरता से करते थे।

### व्यापार तथा विनिमय—

मोहेन जोदड़ो में सड़कों की अच्छी व्यवस्था थी। नगर के चारों ओर खूब बड़ी बड़ी तथा चौड़ी सड़कें बनी थीं जिनके कारण उन लोगों को व्यापार तथा विनिमय आदि में सुविधा होती थी। वे गेहूँ, कपास, कपड़े के साथ ही साथ धातुओं की बनी हुई चीजों का भी व्यापार करते थे। मोहेन जोदड़ो उस समय प्रसिद्ध औद्योगिक केन्द्र था, अतः व्यापार के आधिक्य के कारण व्यापारी दो भागों में विभक्त थे—

१—गण
२—श्रेणी

'गण' के अन्तर्गत बहुत धनी व्यापारी थे किन्तु निर्धन व्यापारी (श्रेणी) उन्हीं गणों का ही आश्रय लेकर खूब रुपया कमाते थे। अन्य देशों से वे टीन, पत्थर के बने हुए चाकू, चक्की, ताम्र तथा बहुमूल्य रत्न मँगवाते थ। इस प्रकार न केवल भारत के ही अन्य प्रान्तों से अपितु एशिया के अन्य देशों से भी इनका व्यापार तथा विनिमय चलता था।

### पशु पालन—

खुदाई में कुछ पशु पञ्जर भी प्राप्त हुए हैं जिनसे विदित होता है कि वे लोग पशु पालन के प्रेमी थे और पशुओं का उपयोग अपने गृह कार्यों में

करते थे। सिन्धु प्रदेश में लम्बे तथा कूबड़दार बैल होते थे जो खेती करने तथा गाड़ी चलाने के काम में आते थे और बाहर भी भेजे जाते थे। पशुओं में बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ता, ऊँट, सुअर आदि विशेष रूप से रखे जाते थे। सिन्धु-प्रदेश में उस समय दो जाति के कुत्ते थे—पहला बुलडॉग वर्ग का, दूसरा साधारण जाति का जैसा अब भी गाँवों में मिलता है। इसके अतिरिक्त जंगली पशुओं में हिरन, नीलगाय, बन्दर, भालू, खरगोश आदि की भी हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं। घोड़ों को वे पालते थे या नहीं यह विषय संदेह पूर्ण है क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ। केवल एक मिट्टी का बना हुआ घोड़ा अवश्य प्राप्त हुआ है।

## मुद्रा तथा नाप-तोल—

सिंधु प्रदेश के लोगों को नाप-तोल का विशेष ज्ञान था। कुछ मुद्रायें भी प्रचलित थीं जो वाणिज्य तथा व्यापार में प्रयुक्त होती थीं। मोहेन-जोदड़ो की खुदाई में पत्थर, मिट्टी तथा विविध रंग के समुद्री पत्थरों की बनी हुई अनेक मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जो भली प्रकार औजार द्वारा काट-छाँट कर बनी हुई प्रतीत होती हैं और उन पर पशुओं के चित्र भी अंकित हैं। उन्हें देख कर ऐसा विदित होता है कि पालिश करके उन्हें पकाया गया था। इसी कारण उनका रंग श्वेत था, क्योंकि जो टूटी हुई मुद्रायें प्राप्त हुई हैं उनके अन्दर का भाग नीला है।

खुदाई में पत्थर के बटखरे भी प्रात्त हुए हैं जिनका प्रयोग व्यापार में नाप तोल के लिये होता था। यह बड़ी ही चतुराई के साथ बनाये जाते थे और इनके निरीक्षण के लिये एक अधिकारी भी नियुक्त होता था जो जाँच करता था। इनकी तोल में तनिक भी अन्तर न आने पाता था। यह गोल तथा त्रिकोण दो आकारों के बनते थे। एक त्रिकोण बटखरा खुदाई में प्राप्त भी हुआ है जिसका वजन २५ पौ० है! इन पर कोई चिह्न नहीं अंकित किया जाता था। इसके अतिरिक्त नापने के लिये घोंघे की पटरियाँ बनाई जाती थीं।

## धार्मिक जीवन—

खुदाई में प्राप्त बस्तुओं से विदित हीता है कि सिंधु प्रदेश में उस समय विविध धर्म प्रचलित थे और विविध धर्मों के मानने वाले व्यक्ति

उसी के अनुसार पूजा का भी विधान सुचारु रूप से करते थे। यद्यपि मोहेन-जोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई में कोई भी मंदिर नहीं प्राप्त हुआ है किन्तु एक विचित्र भवन खोद कर निकाला गया है जिसका आँगन ६० फीट ६ इंच लम्बा तथा ४७ फीट ४ इंच चौड़ा था। उस आँगन में तीन कुएँ थे। विद्वानों का अनुमान है कि यह मंदिर ही होगा। इसके अतिरिक्त सर जाँन मार्शल का यह भी विचार है कि उस समय लकड़ी के मंदिर बनते थे किन्तु यह उनका मत संदेह पूर्ण है। तत्कालीन समाज में धर्म का बड़ा ही प्रभाव था। सभी व्यक्ति अपने-अपने धर्म का सम्मान करते थे। धर्म के विषय में पुरोहित ही सर्वत्र मान्य न थे। व्यक्ति स्वयं पूजा करते थे।

मोहेन जोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई में अनेक ऐसी मूत्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो केवल अपनी कमर में पटका पहने हैं। ये मातृदेवी हैं जिनकी पूजा उस समय में होती थीं। इन मूर्तियों को खूब सोने, चाँदी के गहने तथा मालायें पहनाई जाती थीं। इन्हीं मूर्तियों के सम्मुख अनेक स्थानों पर गर्भवती स्त्रियों की भी मूर्तियाँ बनी हुई प्राप्त हुई हैं जिनसे विदित होता है कि उन मातृ-देवी से पुत्र प्राप्ति का वरदान भी माँगा जाता था। खुदाई में एक स्थान पर एक ऐसा चित्र प्राप्त हुआ है जिसमें स्त्री पुरुष हैं—स्त्री अपने दोनों हाथ ऊपर को उठाये है और पुरुष के हाथ में एक हँसिया है। आगे देवी की मूर्ति है। इस चित्र को देखने से यही विदित होता है कि शायद देवी को प्रसन्न करने के लिये उन्हें स्त्री बलि भी दी जाती हो।

भगवान शंकर की पूजा शिव लिंग की स्थापना करके की जाती थीं, ऐसा खुदाई में प्राप्त हुए शिव-लिंगों से विदित होता है। सर जॉन मार्शल का कथन है कि उस समय दो प्रकार के शिव लिंग थे—

१—फैलिक ( लिंग )

२—वेईटिलिक ( सिरे पर नुकीला )

इन्हीं दोनों प्रकार के लिंगों की स्थापना द्वारा शिव की पूजा होती थी।

शिवलिंग के साथ ही साथ योनियों की भी पूजा होती थी। शैव सम्प्रदाय के प्रभुत्व में योनियों का भी विशेष महत्व था, जिनका सम्बन्ध मातृ पूजा से था।

मोहेनजोदड़ो की खुदाई में पुजारी के बैठने की जो मुद्रा प्राप्त हुई है उससे विदित होता है कि उस समय के व्यक्ति योग की प्रणालियों को

भी पूर्ण रूप से जानते थे । अनेक देवियों की ऐसी मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं जो योगासन में बैठी हैं ।

पीपल, शिरीष, नीम आदि वृक्षों की भी पूजा इस समय होती थी । खुदाई में बहुत से तावीज प्राप्त हुए हैं जिनसे विदित होता है कि उस समय के लोगों को भूत प्रेत से भय रहता था जिनके निवारणार्थ वे इन तावीजों को धारण करते थे । इसके अतिरिक्त कुछ लोग उनकी उपासना में भी विश्वास करते थे ।

तावीजों तथा मिट्टी की पट्टियों पर कुछ पशुओं के चित्र अंकित हुए मिले हैं जो उस समय की प्रचलित पशु-पूजा की ओर संकेत करते हैं । सर जॉन मार्शल के अनुसार वे लोग तीन प्रकार के पशुओं की पूजा करते थे ।

१—दन्ती पशु

२—कुछ ऐसे दन्ती पशु जिनके महत्व एवं उत्पत्ति के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाया है ।

३—साधारण पशु ।

समाज में कुछ लोग शक्ति की भी उपासना करते थे जिसमें पशु-बलि आवश्यक थी । एक मुद्रा ऐसी प्राप्त हुई है जिसमें बकरे की बलि का दृश्य अंकित है । एक वृक्ष के नीचे देवी की मूर्ति है । उनके समक्ष एक व्यक्ति झुका हुआ है और उसके पीछे एक बकरा खड़ा है जिसका गला खूंटे से बँधा है । इससे उस समय की बकरे की बलि की प्रधानता प्रकट होती है । हड़प्पा की खुदाई में रा०.ब० दयाराम सहानी ने एक हड्डियों का बड़ा ढेर खोज निकाला जिसमें भेंड़, बैल, घोड़े आदि सभी पशुओं की हड्डियां सम्मिलित थीं । इससे उन्होंने यह अनुमान किया है कि शायद उस स्थान पर पशुओं की एक सामूहिक बलि दी गई होगी ।

एक फियांस की मुद्रा प्राप्त हुई है जिसमें एक नाग बैठा है और उसके समक्ष एक व्यक्ति झुका है । यह दृश्य उस समय की नागपूजा की ओर संकेत करता है । नागपूजा में जल पूजा का विशेष स्थान है । सिंधु प्रांत की खुदाई में प्राप्त हुए कुओं और स्नानागारों से उस समय प्रचलित जल पूजा का ज्ञान होता है ।

इस प्रकार एक ही प्रान्त में इन अनेक धर्मों का प्रचलन तथा उन धर्मों के अनुयायिओं का निवास वास्तव में उनके सुसंस्कृत एवं सभ्य जीवन को प्रकट करता है ।

ललित कलायें

कला का विकास भी उस समय उन्नत अवस्था में था। यद्यपि खुदाई में कोई भी इमारत पूरी नहीं प्राप्त हो सकी है, किन्तु जितने भी अंश प्राप्त हुए हैं उनसे यही अनुमान होता है कि भवनों का निर्माण बड़े ही चातुर्य के साथ होता था। खूब गहरी भूमि खोदकर नींव की स्थापना होती थी, जिसमें धूप में सुखाई हुई तथा टूटी ईंटों का प्रयोग होता था। ऊपर के भवन का निर्माण पकी हुई तथा खूब बड़ी बड़ी ईंटों द्वारा होता था। ये सभी एक ही आकार की होती थीं। इससे विदित होता है कि ये किसी विशेष औजार द्वारा काट कर साँचें द्वारा बनाई जाती होंगी। इन पर पशु-पक्षियों के चिह्न भी बने हुए मिलते है। मोहेंनजोदड़ों के मकानों की दीवारों के निर्माण में सुन्दर एवं चिकनी ईंटों का ही प्रयोग होता था। कुरूप तथा भद्दी ईंटें नहीं लगाई जाती थीं। इन भवनों को देखकर पता चलता है कि उनमें बहुत ही मजबूत मसाले का प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त उस समय के लोग जीवन की सभी आवश्यकताओं एवं ऋतुओं का ध्यान रखकर भवन निर्माण करते थे। घर में दरवाजे, चौखट चटखनी आदि भी होते थे।

मिट्टी एवं पत्थर की प्राप्त हुई मूर्तियाँ उस समय के व्यक्तियों के मूर्ति-कला विषयक ज्ञान को द्योतित करती हैं। भवनों के द्वारों पर तथा उनके अन्दर किया हुआ पच्चीकारी का काम उनके शिल्पकला के ज्ञान को प्रकट करता है।

कुछ पीतल की मूर्तियाँ इस प्रकार की भी प्राप्त हुई हैं जो देखने में नर्तकियाँ मालूम होती है। रा० ब० दयाराम सहानी ने एक नर्तकी की मूर्ति प्राप्त की है जिसके पैरों से विदित होता है कि वह ताल की गति पर नृत्यकर रही है। उसके गले में हँसली तथा पैरों में कड़े हैं। नृत्य कला के कुछ अन्य संकेत उस समय के प्राप्त ताबीजों में भी मिलते हैं। कुछ मुद्राओं पर मनुष्यों के साथ ही साथ ढोल तथा अन्य वाद्य चित्रित हैं। दो मुद्राओं पर मृदंग का चित्र प्राप्त हुआ है। इन सब चित्रों से यही प्रकट होता है कि उस समय नृत्य का खूब प्रचार था और संगीत एवं वाद्यों से भी सभी व्यक्ति अभिरुचि रखते थे।

सिन्धु घाटी की सभ्यता के समाप्त होने पर भी भारत का इतिहास अबाध गति से चलता रहा, किन्तु दुर्भाग्यवश सिन्धु की सभ्यता के समय

से बहुत समय बाद तक का कोई भी चिह्न नहीं प्राप्त हो पाया जिससे इस मध्य के काल के उत्थान-पतन, सभ्यता एवं संस्कृति के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। यद्यपि काल की कराल गति के कारण सिन्धु प्रान्त की सभ्यता अंधकार के गर्त्त में विलीन हो गई परन्तु उसकी स्वर्णिम एवं अमिट छाप आज भी भारतीयों के हृदय में उल्लास का संचार करती है। वर्तमान समय से ५००० वर्ष पूर्व प्रचलित अनेक प्रथायें अब भी चली आ रहीं हैं। उदाहरणार्थ, मातृदेवी, शिव-लिंग, नाग पूजा, जल, वृक्ष आदि की पूजा आज भी भारत के अनेक स्थानों में प्रचलित है। यद्यपि विश्व के इतिहास में मिश्र, रोम, बेबीलोन, यूनान आदि अनेक संस्कृतियों का उत्थान हुआ और अपनी उन्नति के समय में उन्होंने अपना चमत्कार पूर्ण रूप दिखाया, किन्तु वे सभी बिना अपना कोई अवशेष छोड़े हुए विस्मृत के गर्त में लुप्त हो गईं। सिन्धु घाटी की सभ्यता को नष्ट हुए आज महान् काल व्यतीत हो चुका और उसकी सम्पूर्ण सभ्यता एवं संस्कृति काल-कवलित हो गई परन्तु उसके अवशिष्ट जीर्ण-शीर्ण एवं टूटे-फूटे खंडहर तथा अन्य वस्तुयें भारतीय संतानों को आज भी उसी युग, उसी परम्परा एवं उसी सभ्यता की याद दिलाती हैं। अतः यदि यह कहा जाय कि प्रागैतिहासिक युग में भी भारत विश्व की समस्त संस्कृतियों का गुरु था तो इसमें अतिशयोक्ति न होगी।

# वैदिक साहित्य तथा सभ्यता

## वैदिक साहित्य

वेद शब्द संस्कृत की 'विद्'[1] धातु (जानना) से बना है। अतः वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान अथवा विद्या। इस प्रकार गौण रूप से इसका तात्पर्य उस सर्वोत्कृष्ट एवं परम पुनीत विद्या से परिपूर्ण ग्रन्थों से है जिनके द्वारा प्रतिपादित विषय में किसी प्रकार के प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। इसी से वेद को स्वतः प्रमाण कहते हैं। इन ग्रन्थों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रत्येक अंग का चित्रण है।

साधारणतया संस्कृत साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) वैदिक साहित्य।

(२) पश्चात् वैदिक साहित्य जिसके अन्तर्गत मनु आदि महर्षियों के धर्मशास्त्र के ग्रन्थ, रामायण, महाभारत, लौकिक साहित्य, दर्शन-ग्रन्थ, टीकाएँ आदि सम्मिलित हैं।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) मन्त्र अथवा संहिता काल,
(२) ब्राह्मण काल,
(३) सूत्र काल।

इनमें से प्रथम दो मुख्य हैं।

संहिता काल के अन्दर वेदों की चार संहिताएँ—ऋक्, सामन्, यजुस्

---

१ यह धातु लैटिन भाषा में vid-eo और ऐंग्लो-सैक्सन भाषा के wit-an रूपों में मिलती है जिससे अँग्रेजी के wit, wisdom आदि शब्द उद्धृत हैं।

और अथर्वन् – आती हैं। ऋक् अथवा ऋग्वेद संहिता सबसे महत्वपूर्ण एवं प्राचीन कही जाती हैं। पाद से पूर्ण छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् अथवा ऋचा कहते हैं और संहिता का अर्थ है मन्त्रों का संग्रह। आन्तरिक प्रमाण जो कि हमें भाषा तथा विचार सम्बन्धी विकास के परिवर्तनों से प्राप्त होता है, यह सूचित करता है कि ऋग्वेद के मंत्रों की रचना काफी समय में हुई होगी। वेदोक्त यज्ञों के प्रधान ऋत्विक् चार हैं—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। 'होता' का अर्थ हैं पुकारने वाला। इसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। यह ऋग्वेद के मंत्रों का उच्चारण कर विशिष्ट देवताओं का आह्वान करता है। ऋग्वेद में पृथ्वी, अंतरिक्ष, और आकाश में रहने वाले विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ मिलती हैं। पृथ्वी के देवताओं में अग्नि, अन्तरिक्ष में इन्द्र तथा आकाश के देवताओं में सूर्य, सविता और विष्णु का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। देवियों में उषा का सर्वोच्च स्थान है।

वैदिक काल के अन्य ग्रन्थों की भाँति ऋग्वेद के मंत्र आरम्भ काल के ऋषियों को कण्ठस्थ थे और ये महर्षि अपने शिष्यों को कण्ठस्थ कराते थे। इस प्रकार से पीढ़ियों तक वैदिक अध्ययन की एक परम्परा सी बन गई थी। आज की भाँति इनका कोई लिखित रूप न था। यही कारण है कि वेदों को 'श्रुति' अर्थात सुना हुआ कहते हैं।

ऋग्वेद का अध्ययन भारतीय इतिहास के पूर्ण अध्ययन के लिये तो आवश्यक है ही, साथ ही साथ विश्व के इतिहास की झलक भी इसमें मिलती है क्योंकि आर्य लोग केवल भारतवर्ष में ही नहीं वरन् संसार के अन्य देशों में भी गये और इन आर्य लोगों की सम्पूर्ण संस्कृति का मूल स्रोत वेदों में ही प्राप्त होता है। केवल इतना ही नहीं, भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी ऋग्वेद का अत्यधिक महत्व है। भाषा की उत्पत्ति एवं ध्वनि सम्बन्धी बहुत से विषयों का ज्ञान वैदिक शब्दावली से होता है।

ऋग्वेद के पश्चात् हम सामवेद संहिता पर आते हैं। ऋचाओं का विविध स्वरों में गान साम कहलाता है। वास्तव में सामवाद एक स्वतन्त्र रचना नहीं प्रतीत होती है क्योंकि ऋग्वेद की अधिकांश ऋचाएँ इसमें प्राप्त होती हैं। सामवेद का संकलन उद्गाता ऋत्विक् के लिये हुआ है। 'उद्गाता' शब्द का अर्थ है उच्च स्वर से गाने वाला। वह यज्ञ के अवसर पर ऋचाओं का विविध स्वरों में गान करता है।

तीसरी संहिता यजुर्वेद की है। यजुस् शब्द के अर्थ के विषय में कई

मत है यथा 'अनियताक्षरावसानो यजुः' अर्थात यजुस् वह है जिसमें अक्षरों की संख्या नियत नहीं है--'गद्यात्मको यजुः' अर्थात गद्यात्मक भाग को यजुस् कहते हैं। अतः जबकि ऋग्वेद में छन्दोबद्ध ऋचाएँ प्राप्त होती हैं, यजुवद में गद्यात्मक अंश भी प्र प्त होता है। यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले ऋत्विक् को अध्वर्यु कहते हैं। इसका काम है यज्ञों का भली भाँति सम्पादन कराना।

**यजुर्वेद के दो भाग हैं**— कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद। इस विभाजन के विषय में महीधर ने अपने शुक्ल यजुर्वेद संहिता के भाष्य के आरम्भ में एक मनोरंजक कहानी लिखी है। महर्षि व्यास ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का संकलन करने के पश्चात् उन्हें क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि तथा सुमन्तु नाम के अपने शिष्यों को कण्ठस्थ कराया। वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य तथा अन्य शिष्यों को यजुर्वेद पढ़ाया। एक बार वैशम्पायन याज्ञवल्क्य से क्रुद्ध हो गये।[१] क्रोध में आकर वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य को सम्पूर्ण शिक्षा वापस करने की आज्ञा दी। याज्ञवल्क्य ने योगशक्ति द्वारा वेद का वमन कर दिया। अन्य शिष्यों ने इस प्रकार वमन किए हुए यजुस् का गुरू की आज्ञा से तित्तिर पक्षियों के रूप में पान किया। इसलिये कृष्ण वर्ण हो जाने के कारण यजुस् संहिता का नाम कृष्ण तथा तित्तिर पक्षियों द्वारा ग्रहण किए जाने के कारण तैत्तिरीय पड़ा। इससे दुःखी होकर याज्ञवल्क्य ने सूर्य देवता की स्तुति की जिन्होंने वाजी (घोड़ा) के रूप में दर्शन देकर याज्ञवल्क्य को यजुस् का पुनः दान किया। सूर्य के प्रकाशमान होने के कारण इस वेद का नाम शुक्लयजुर्वेद पड़ा और सूर्य द्वारा वाजी का रूप धारण किये जाने के कारण 'वाजसनेयि' नाम पड़ा।

इस कथा के अतिरिक्त इस विभाजन के सम्बन्ध में और भी मत हैं। घाटे[२] का कथन है कि इस संहिता का शुक्ल विशेषण कदाचित् इस कारण

---

**१—क्रोध का कारण एक अन्य स्थल** (Calcutta Mss: Cat. I, P.39) **पर इस प्रकार दिया है—वैशम्पायन ने अपने शिष्यों से ब्रह्महत्या दोष के प्रायश्चित सम्बन्धी तप का अभ्यास करने को कहा। याज्ञवल्क्य ने अन्य शिष्यों को अयोग्य समझ कर अकेले ही इस कार्य को करने का प्रस्ताव किया। इस पर वैशम्पायन उन पर क्रुद्ध हो गये और उन्हें ब्राह्मणों से घृणा करने वाला समझा।**

1. Lectures on Rigveda P. 29

दिया गया कि वाजसनेयि संहिता में ब्राह्मणों (अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी संकेतों) का मिश्रण नहीं है तथा कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्र और ब्राह्मण का मिश्रण है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के कथनानुसार[1] कृष्ण यजुर्वेद में छन्दोबद्ध मन्त्रों और गद्यात्मक अंशों का सम्मिश्रण है। इसी मिश्रण के आधार पर कृष्ण विशेषण दिया गया। इसके विपरीत शुक्लयजुर्वेद में गद्यात्मक अंशों का पूर्णतः अभाव है और इसी शुक्लता के कारण इसका शुक्ल यजुर्वेद नाम पड़ा।

अथर्ववेद संहिता इन तीनों उपर्युक्त संहिताओं से भिन्न है। इसका कारण यह है कि अन्य संहिताओं की भाँति यह मुख्यतया यज्ञों से सम्बन्ध नहीं रखती है। इसमें ऋत्विजों के उच्च विचारों की अपेक्षा साधारण जनता के विश्वासों पर अधिक प्रकाश डाला गया है। आरम्भ में अथर्वन् का अर्थ अग्नि का ऋत्विक् था। इस वेद का प्राचीनतम नाम 'अथर्वांगिरस्' (अर्थात् अथर्वन् और अङ्गिरस्) है। अङ्गिरस् का अर्थ प्रागैतिहासिक युग के ऋत्विक् से है। अतः इन दोनों शब्दों से मोहन, मारण आदि के सिद्धान्तों का अर्थ प्रकट होता है। अथर्वन् से तात्पर्य पवित्र मोहिनी शक्ति से है जिसका ध्येय प्रसन्नता एवं कल्याण का उत्पादन है और अङ्गिरस् का सम्बन्ध मारण, उच्चाटनादि क्रियाओं से है। अथर्ववेद की बहुत सी ऋचाएँ ऋग्वेद से ग्रहीत हैं। मोहनादि क्रियाओं के अतिरिक्त इस वेद में कुछ विवाह, श्राद्ध, सोमयागादि विषयक मन्त्र भी प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद का विशेष सम्बन्ध ब्रह्मा ऋत्विक् से है, यद्यपि ब्रह्मा को समस्त वेदों का ज्ञाता होना चाहिए।

कुछ बातों में अथर्ववेद ऋग्वेद से अधिक महत्व रखता है। प्रारम्भिक सभ्यता के इतिहास के ज्ञान के लिये अथर्ववेद अधिक उपयोगी है, क्योंकि इसका अधिकांश भाग आदिम निवासियों के धर्म से सम्बन्धित है।

इसके अतिरिक्त यह भारतवर्ष में विज्ञान के विकास पर अधिक प्रकाश डालता है। विविध पौदों में नाना प्रकार के रोगों के निवारण करने की क्षमता से ही आयुर्वेद का जन्म होता है। पौदों, पत्तियों आदि के विस्तृत वर्णन से बनस्पतिशास्त्र के अध्ययन में सहायता मिलती है तथा विषैले पशुओं आदि के उल्लेख से जीव-विज्ञान की झलक मिलती है।

---

१—संस्कृत वाङ्मय पृष्ठ १०

ब्राह्मण काल

वेद को मन्त्र और ब्राह्मण से युक्त कहा गया है—'मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेदः'। मन्त्रों का संग्रह संहिताओं में प्राप्त होता है। ब्राह्मण शब्द का तात्पर्य ब्रह्म सम्बन्धी ग्रन्थों से है। ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थ हैं जिनमें से एक अर्थ यज्ञ है तथा बृह् (वर्धने) धातु से इसका अर्थ जो बढ़ा हुआ हो यह भी निकलता है। इस प्रकार अर्थ करने से यह प्रकट होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य लक्ष्य यज्ञ का विस्तार पूर्वक विवेचन करना है। वास्तव में वेद-मंत्र बड़े रहस्यमय हैं। उनका स्पष्ट ज्ञान ब्राह्मणों में दी हुई व्याख्या से ही हो सकता है। [1] राजशेखर ने ब्राह्मणों के विषयों की समीक्षा भली भाँति की है—"मन्त्राणां स्तुतिनिंदाव्याख्यानविनियोगग्रन्थो ब्राह्मणम्"। अर्थ यह है मन्त्रों की प्रशंसा, निन्दा तथा विनियोग करने वाले ग्रन्थ ब्राह्मण हैं।

ब्राह्मण काल में तीन प्रकार के ग्रंथ मिलते हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। ब्राह्मणों के विषय को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१—विधि—इसके अन्तर्गत यज्ञ सम्बन्धी नियम प्राप्त होते हैं।

२—अर्थवाद—इसमें यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं की विशद् व्याख्या है।

३—उपनिषद्—जो धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों से पूर्ण है।

हर वेद के पृथक्-पृथक् ब्राह्मण हैं जो नीचे दिये जाते हैं—

१ ऋग्वेद के ब्राह्मण

( अ ) ऐतरेय ब्राह्मण—इसके रचयिता महीदास ऐतरेय कहे जाते हैं किंतु वास्तव में वे इसके संग्रहकर्ता हैं।

( आ ) सांख्यायन या कौषीतकि ब्राह्मण—यह भी ऋग्वेद का ही ब्राह्मण है। इसमें ऐतरेय ब्राह्मण के मूल भाग के विषयों की व्याख्या मिलती है।

२—सामवेद के ब्राह्मण—

( अ ) पञ्चविंश अथवा ताण्ड्य ब्राह्मण या प्रौढ़ ब्राह्मण—साम-

---

१—उदाहरणार्थ उर्वशी और पुरुरवा का कथानक जो ऋग्वेद में केवल एक सूक्त में उपलब्ध है किन्तु शतपथ ब्राह्मण में इसी का वर्णन पहले काण्ड म विस्तार पूर्वक मिलता है।

द के ब्राह्मणों में अधिक विख्यात है। पंचविंश का अर्थ है पच्चीस। इस ब्राह्मण में पचीस अध्याय होने के कारण इसे पंचविंश कहा गया। इसमें सोमयज्ञ का वर्णन है तथा व्रात्यस्तोम की विधि मिलती है, जिसके द्वारा व्रात्य लोग जो ब्राह्मण नही हैं, शुद्ध होकर ब्राह्मण समाज में ग्रहण किये जा सकते हैं।

( आ ) जैमिनीय ब्राह्मण— इसके आरम्भ म यज्ञ संबंधीं विधि का उल्लेख है और अन्त में सामवेद के मन्त्रकारों की नामावली मिलती है।

३—यजुर्वेद के ब्राह्मण—

( क ) कृष्ण यजुर्वेद—

तैत्तिरीय ब्राह्मण—इसे तैत्तिरीय संहिता का ही उत्तर भाग समझना चाहिये।

( ख ) शुक्ल यजुर्वेद -

शतपथ ब्राह्मण—अर्थात् १०० मार्गों का ब्राह्मण। १०० अध्याय होने के कारण इसका नाम शतपथ ब्राह्मण पड़ा। इस ब्राह्मण से वैदिक काल के धार्मिक समाज की झलक मिलती है।

४—अथर्ववेद का ब्राह्मण—

गोपथ ब्राह्मण—इसमें दो भाग हैं—प्रथम भाग में अथर्ववेद की महिमा का वर्णन है तथा इसमें शिवजी की चर्चा भी मिलती है।

आरण्यक—

इन्हें आरण्यक इसलिये कहते हैं कि ये ग्रन्थ वन ( अरण्य ) में पढ़ने के लिये थे जैसा कि सायणाचार्य ने कहा है—

"अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते"

भारतीय धर्म की एक बहुत बड़ी विशेषता है जिस पर किसी अन्य धर्म ने ध्यान नहीं दिया। भारत में आदिकाल से ही यह विचार प्रचलित था कि मनुष्य का धर्म वही नहीं हो सकता जो एक बच्चे का होता है। इसके अतिरिक्त वृद्ध पुरुष के विचारों में मानसिक विकास के साथ-साथ संसार के व्यस्त प्राणियों से बड़ा भेद हो जाता है।

प्राचीन नियमों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपना सम्पूर्ण जीवन चार अवस्थाओं अर्थात् आश्रमों में होकर व्यतीत करना पड़ता था। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ तथा सन्यास। सर्वप्रथम अवस्था शैशवकाल से

युवा होने तक की है। इस काल में बालक विनय का पालन करते हुए गुरू के घर पर रहता हुआ जीवन के लिये आवश्यक सभी बातों का और विशेष कर वेद तथा धार्मिक कर्त्तव्यों का अध्ययन करता था।

युवावस्था आरम्भ होने पर वह गुरू के घर से आकर विवाह करता और एक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करता था। इस अवस्था में यज्ञादि क्रियाओं के निमित्त ब्राह्मण ग्रन्थों की उपयोगिता थी।

किंतु जब जीवन की संध्या सन्निकट आ जाती थी और मनुष्य के बाल सफेद होने लगते थे और जब वह अपने बच्चों तथा उनके बच्चों को देख लेता था, तो उसका नवीन जीवन प्रारंभ होता था। वह अपना घर बार छोड़कर अरण्य की शरण लेता था। उस समय वह यज्ञादि कृत्यों की आवश्यकता न समझता हुआ आरण्यकों का अध्ययन करता था और जीवन के उच्चतम एवं गूढ़ रहस्यों पर विचार करता था। अतः आरण्यक ग्रन्थों की उपयोगिता इन्हीं वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट तपस्वियों के लिये थी।

उपनिषद्—

संस्कृत में उपनिषद् शब्द उप और नि उपसर्ग के साथ सद् धातु से बना है। सद् धातु का अर्थ है बैठना। इस प्रकार उपनिषद् शब्द का अर्थ है किसी के समीप बैठना। अतः गहन वनों में वृक्षों की छाया के नीचे की बैठकों के फलस्वरूप गूढ़ विचारों का समावेश उपनिषद् में प्राप्त होता है।

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति कुछ विद्वान् अन्य प्रकार से भी करते हैं। सद् धातु के और भी कई अर्थ होते हैं यथा विनाश, ज्ञान और प्राप्ति तथा शिथिल करना। अतः उपनिषद् वह ज्ञान है जो अनर्थकारी संसार का विनाश कर, सम्पूर्ण जगत की कारण भूत अविद्या को शिथिल कर ब्रह्म को प्राप्त कराता है।[1]

इस प्रकार उपनिषदों में पूर्व के ग्रन्थों से भिन्न मार्ग परिलक्षित होता है। यह संसार क्या है? मैं क्या हूँ? मृत्यु के उपरान्त मेरा क्या होगा? इत्यादि प्रश्नों का हल उपनिषदों में प्राप्त होता है। हमारे प्राचीन ऋषि

---

१ उपनिषादयति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्। —जगद्गुरु श्री शंकराचार्य

मुनियों ने जिस ग्रान्तरिक ज्ञान को प्राप्त कर ग्राध्यात्मिक तत्वों के साक्षात्कार किया उन्हीं का संकलन हम इन उपनिषदों में पाते हैं। ग्रन्य देशों के विद्वान् इन उपनिषदों को भारतीय संस्कृति की एक बहुत बड़ी देन मानते हैं। वैदिक साहित्य का ग्रन्तिम भाग होने के कारण ग्रथवा वेद के उच्चतम ध्येय का प्रतिपादन करने के कारण इन्हें वेदान्त भी कहते हैं। वैसे तो उपनिषदों की संख्या बहुत है किन्तु उनमें से मुख्य ये हैं:—

(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) वृहदारण्यक (११) श्वेताश्वतर। सिद्धान्त के दृष्टि कोण से छान्दोग्य ग्रौर वृहदारण्यक उपनिषद् बहुत महत्व रखते हैं।

## सूत्रकाल—

ग्रब हम वैदिक साहित्य के ग्रंतिम काल ग्रर्थात् सूत्रकाल पर ग्राते हैं। सूत्र का ग्रर्थ है थोड़े ग्रक्षरों द्वारा ग्रधिक ग्रर्थ को प्रकट करना। इस काल में यज्ञ सम्बन्धी क्रियाग्रों का ग्रत्यधिक विस्तार हो जाने के कारण उन्हें स्मरण करने के लिये छोटे ग्रन्थों की ग्रावश्यकता पड़ी। इस काल के ग्रन्थ वेद सम्बन्धी विषय को समझने के लिये बहुत उपयोगी हैं। ग्रतः वे वेद का ही ग्रंग ग्रर्थात् वेदाङ्ग कहलाते हैं। ये वेदाङ्ग ६ हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द ग्रौर ज्योतिष।

**शिक्षा**—वेदों के पाठ के लिये स्वरों का ज्ञान परमावश्यक है। शिक्षा की सहायता से बेदोच्चारण का ज्ञान होता है। प्रत्येक वेद की शिक्षा ग्रलग-ग्रलग है—जैसे सामवेद की नारद शिक्षा ग्रौर शुक्लयजुर्वेद की याज्ञवल्क्य शिक्षा।

**कल्प**—कल्प सूत्र के दो भेद हैं—श्रौत सूत्र तथा स्मार्त सूत्र। श्रौत से ग्रर्थ श्रुति (वेद) सम्बन्धी यज्ञादि से है। इन श्रौत सूत्रों में भारतीय याग-पद्धति का मूल रूप प्राप्त होता है। स्मार्त सूत्र दो प्रकार के हैं- गृह्य-सूत्र तथा धर्म-सूत्र। गृह्य सूत्रों में गृहस्थ के योग्य यज्ञादि का वर्णन है तथा धर्म सूत्र में चारों ग्राश्रमों एवं चारों वर्णों के धर्मों का उल्लेख है।

**व्याकरण**—इसका ध्येय वेदों के ग्रर्थ को स्पष्ट करना तथा उस ग्रर्थ की रक्षा करना है। इस सम्बन्ध में पाणिनि का 'ग्रष्टाध्यायी' विख्यात है। पाणिनि के पूर्व के लगभग समस्त व्याकरण नष्ट हो गये हैं।

**निरुक्त**—वेदों का अर्थ समझने के लिये शब्दों की व्युत्पत्ति जानना अत्यन्तावश्यक है। यही व्युत्पत्ति निरुक्त में प्राप्त होती है। आज कल केवल यास्क मुनि का ही निरुक्त उपलब्ध है।

**छन्द**—जैसा पूर्व में कहा जा चुका है वेद के मन्त्र छन्दोबद्ध हैं। अतः छन्द के विषय में भी ज्ञान प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। इस वेदाङ्ग का स्वतन्त्र ग्रन्थ पिंगलाचार्य रचित 'पिगल' है जिसके अन्तर्गत वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का उल्लेख है।

**ज्योतिष**—यज्ञों के उचित काल के निरूपण के लिये ज्योतिष का अध्ययन बहुत आवश्वक है। इस सम्बन्ध में लगध द्वारा रचित 'वेदाङ्ग-ज्योतिष' प्रसिद्ध है।

## उपवेद—

वेदाङ्गों के अतिरिक्त चारों वेदों के चार उपवेद हैं जो चौदह विद्याओं के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गन्धर्ववेद और अथर्ववेद का अर्थवेद है। अर्थवेद के अन्दर दण्डनीति, राजनींति, अर्थशास्त्र, स्थापत्य कला आदि का भीं वर्णन है।

## वेदों का काल—

वेदों के काल का निरूपण करना अत्यन्त कठिन है। इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। लौकमान्य तिलक ने 'ओरियन' नामक अपने ग्रंथ में वेदों का काल ईसा के ६००० वर्ष पूर्व माना किंतु योरपीय विद्वान् इसको स्वीकार नहीं करते। मैक्समूलर का कथन है कि इसके कुछ मंत्र ईसा के पूर्व १३ वीं शताब्दीं में और कुछ इन्डो-इरानियन काल में (ईसा के १५०० वर्ष पूर्व) रचे गए। ह्विटनीं, ग्रासमैन आदि इसका काल ईसा के २००० वर्ष पूर्व बताते हैं। जैकोबी के अनुसार ईसा के ३०००-२५०० वर्ष पूर्व और मैक्डांनल के अनुसार १५०० वर्ष पूर्व वेद का काल निश्चित किया जाता है। किंतु अभी तक इस विषय में कोई निश्चित निर्णय नहीं हो पाया है। प्रो० वेबर का कथन उपयुक्त है कि वेदों के काल का पता लगाना व्यर्थ परिश्रम करना है।

**वैदिक सभ्यता—**

वैज्ञानिकों ने मनुष्य जाति की सभ्यता के उत्कर्ष को चार कालों में विभक्त किया है:—

१—अस्थि तथा पाषाण युग
२—ताम्र युग
३—लौह युग
४—स्वर्ण युग

ऋग्वेद में वृत्रासुर को मारने के लिये महर्षि दधीचि की अस्थियों से अस्त्र बनाने का उल्लेख मिलता है।[1] साथ ही साथ पाषाण के अस्त्रों का भी वर्णन प्राप्त होता है, यहाँ तक कि एक पाषाण निर्मित नगर का भी वर्णन मिलता है।[2] इसी प्रकार ताँबे की बनी हुई अनेक वस्तुओं का प्रसंग मिलता है। लोहे के बने हूए तीर, धनुष, तलवार आदि अनेक अस्त्र शस्त्र प्रसिद्ध ही हैं। स्वर्ण निर्मित आभूषणों के साथ ही साथ सोने के सिक्कों (निष्क)[3] का भी प्रसंग प्राप्त होता है। उस युग में चांदी के सिक्के भी बहुतायत से मिलते थे।[4] इस प्रकार वैदिक काल में एक ही साथ सभ्यता की चारों अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। अब आगे विभिन्न क्षेत्रों में इस सभ्यता के विकास पर विचार किया जायगा।

**सामाजिक जीवन—**

१—**परिवार**—समाज की नींव पितृमूलक परिवार (Patriarchal family) में थी। परिवार में पूर्ण रूप से संयम (Discipline) का पालन होता था। उसमें अनेक सदस्य होते थे। पिता या ज्येष्ठ भ्राता परिवार का अधिपति (कुलप) होता था। पारिवारिक नियंत्रण का

---

**१—इन्द्रोदधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत: । जघान नव तीर्नव । १ । ८४ । १३**

२—७ । ३ । ७ ऋग्वेद

३—५ । २७ । २ ऋग्वेद

४—५ । ३३ । ६ ऋग्वेद

पता इस बात से चलता है कि किस प्रकार पिता के दण्ड के फलस्वरूप ऋज्राश्व को नेत्रों की ज्योति से हाथ धोना पड़ा किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि पिता और पुत्र में परस्पर वात्सल्य की भावना का अभाव था। विवाह सम्बन्धी एक मंत्र[1] से यह सूचित होता है कि नवविवाहिता वधू अपने प्रेम से कभी कभी अपने पति के भाइयों तथा माता पिता पर भी विजय प्राप्त कर लेती थी। इस बात से संयुक्त परिवार की प्रथा का भी पता चलता है। प्रत्येक घर इतना बड़ा होता था जिसमें संयुक्त परिवार के सभी सदस्य तथा पशु आदि उसमें सुविधा पूर्वक रह सकते थे। गृह में कई कमरे होते थे और वे बन्द भी किए जा सकते थे। आर्यों के परिवार में आतिथ्य की बड़ी उच्च भावना थी। अतिथि की सेवा करना महान धर्म समझा जाता था और पञ्च महायज्ञों में इसका विशेष स्थान था।

आर्यों के इस पारिवारिक जीवन से हम भारतीय संस्कृति की महत्ता का अनुमान कर सकते हैं। संस्कृति को सूचित करने वाली सबसे बड़ी बात थी उत्तरदायित्व की भावना। परिवार का अधिपति तथा अन्य सदस्य एक दूसरे के प्रति उचित उत्तरदायित्व का अनुभव एवं पालन करते थे। परिवार के सदस्यों की संख्या भी उच्च कोटि की संस्कृति पर प्रकाश डालती है। सभी सदस्य एक साथ रहते एवं एक ही स्थान पर भोजन करते थे तथा एक ही सम्पत्ति का उपभोग करते थे। परिवार में ऐक्य की भावना थी। एक सदस्य के हितार्थ अन्य सभी लोग शत्रु, बीमारी आदि का सामना करने के लिये उद्यत रहते थे।

२—**जातिभेद**—आज कल हम देखते हैं कि जाति का निर्णय जन्म से होता है, यहाँ तक कि जो लोग अपने को उच्च जाति का मानते हैं वे अन्य जातियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार समाज के अन्दर असंख्य जातियाँ एवं उपजातियाँ पाई जाती हैं और दिन प्रति दिन नवीन जातियों का जन्म होता जा रहा है। वैदिक काल में यह दशा न थी। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में चार वर्णों का उल्लेख मिलता है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। उस युग में इन वर्णों का निश्चय केवल जन्म से हो नहीं वरन् मनुष्य की योग्यता तथा उसके कार्यों के अनुसार भी किया जाता था। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में एक विराट पुरुष की कल्पना की गई है जिसमें

---

१—ऋग्वेद १०। ३५

चारों वर्णों की उत्पत्ति बतलाई गई है। उसम इनके धर्मों पर भी प्रकाश डाला गया है।

उस समय वर्ण व्यवस्था के नियम कठोर नहीं थे। एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण का कार्य करके उसमें जा सकता था। ब्राह्मण क्षत्रिय का कार्य करके क्षत्रिय हो सकता था तथा क्षत्रिय ब्राह्मण के कार्य की योग्यता प्राप्त कर ब्राह्मण हो सकता था। अतः आन्तरिक गुणों के परिवर्तन से वर्ण में परिवर्तन होता था। वर्ण परिवर्तन का नियम था—वर्णानुगत सहज गुणों का आमूल परिवर्तन। कोई व्यक्ति रजोगुण के विद्यमान न रहने पर भी यदि अपने में क्षत्रियोचित रजोगुण का समावेश कर लेता था तो वह क्षत्रिय हो सकता था। इस प्रकार के अनेक उदाहरण वैदिक साहित्य में मिलते हैं। मुद्गल ऋषि ब्राह्मण से क्षत्रिय हो गये थे। विश्वामित्र ने अपने में पूर्णतया सतोगुण का समावेश करके राजर्षि से ब्रह्मर्षि के पद को प्राप्त किया था। कवष दासीपुत्र होते हुए भी ऋषि बन गए।

**२ – विवाह तथा स्त्रियों की दशा**—वैदिक काल में समाज के निश्चित नियमों के अनुसार विवाह होता था। वेदोक्त विवाह सम्बन्धी मंत्रों के आधार पर ही विवाह संस्कार सम्पादित किया जाता था। उन मन्त्रों का उच्चारण आजकल भी विवाह के अवसर पर होता है। इसके अतिरिक्त कुछ विवाह सम्बन्धी रीति रस्म तथा विधियाँ अब भी हिंदू समाज में प्रचलित हैं।

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल में बाल विवाह की प्रथा प्रचलित न थी। अवस्था पूर्ण होने पर ही विवाह होता था। स्त्री-पुरुषों को इच्छानुसार विवाह करने की स्वतन्त्रता थी। साधारणतया एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह कर सकता था, यद्यपि कुछ राजकुलों के ऐसे भी दृष्टान्त प्राप्त होते हैं जिनमें एक पुरुष ने अनेक स्त्रियों से विवाह किया।

ऋग्वेद के एक स्थल[1] पर एक विधवा हुई स्त्री से उसके मृत पति की चिता के समीप से हटने के लिए आग्रह किया जाता है। इससे विदित होता है कि यद्यपि सती प्रथा का ज्ञान लोगों को था किन्तु यह प्रथा अधिक प्रचलित न थी। विधवा स्त्री पुनः विवाह कर सकती थी।

वैदिक समाज में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी थी। धार्मिक कृत्य

---

१—१०।१८।८

तथा यज्ञादि स्त्री के साथ ही किए जाते थे। स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था, यहाँ तक कि कई स्थलों पर स्त्रियों के ऋषि होने का उल्लेख भी मिलता है,[1] जो पुरुषों की भाँति वेद मन्त्रों का उच्चारण एवं होम आदि क्रियायें करती थीं। उस समय परदे की प्रथा समाज में प्रचलित नहीं थी और स्त्रियां स्वतन्त्रतापूर्वक सार्वजनिक अवसरों पर बाहर निकलती थीं। यद्यपि घूंघट डाले हुए नव बधुओं का वर्णन वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है किंतु उन्हें परदे में रखे जाने का कोई भी प्रसंग नहीं आता है। स्त्रियाँ चतुर एवं गृह कार्यों में दक्ष होती थीं। वे प्रातःकाल गृह के समस्त व्यक्तियों को कार्य में लगाकर स्वयं गृह कार्यों में तत्पर हो जाती थीं।

४—**शिक्षा**—ऋग्वेद में तत्कालीन शिक्षा पद्धति का भी सजीव चित्रण है।[2] वेद मंत्रों के उच्चारण की दादुर ध्वनि से तुलना की गई है। सर्वप्रथम गुरू मंत्रों का उच्चारण करता था तत्पश्चात् सभी शिष्य उसे दोहराते थे। इससे विदित होता है कि सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक ही दी जाती थी। पारस्परिक शास्त्रार्थ का भी उल्लेख मिलता है। कभी-कभी पिता भी गुरू का कार्य करता था। उसके पुत्र तथा पड़ोस के कुछ लड़के उससे शिक्षा ग्रहण करते थे। शिष्य के लिये 'ब्रह्मचारिन्' शब्द का प्रयोग मिलता है। बुद्धि की प्रखरता एवं नैतिक बल की प्राप्ति करना ब्रह्मचारी का परम उद्देश्य था।

५—**मनोविनोद**—वैदिक काल में मनोविनोद के कई साधन थे। उस समय की अनेक कलाओं के विकसित रूप का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। संगीत कला का शास्त्रीय रूप सामवेद में प्राप्त होता है। वीणा, वेणु, ढोल आदि वाद्यों के प्रयोग में लोग अत्यन्त प्रवीण थे। स्त्री तथा पुरुष दोनों में नृत्य कला का प्रचलन था। संगीत, भावप्रदर्शन आदि से पूर्ण यज्ञ की क्रियाओं में नाट्य कला का आविर्भाव मिलता है। भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है—ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को ग्रहण कर नाट्य वेद का निर्माण किया :—

"जग्राह पाठ्यमृग्वदात् सामम्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥[3]

---

१—यथा लोपा मुद्रा, घोषा, वागाम्भृणी आदि।

२—७।१०३

३—१०।७१ ऋग्वेद

कुछ व्यक्ति आखेट द्वारा मनोरंजन करते थे। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति अश्वों तथा रथों की दौड़ में अभिरुचि रखते थे। द्यूत क्रीड़ा अत्यन्त विनोद का विषय समझा जाता था, किन्तु ऋग्वेद में इसकी निंदा की गई है। इसी द्यूत क्रीड़ा द्वारा बहुतों का सर्वनाश भी हो जाता था।

६—**भोजन**—उस समय आर्यों का भोजन बहुत सादा था। जनता की मुख्य जीविका कृषि तथा पशुपालन पर आधारित थी। खेती की पैदावार में धान, जौ, और गेहूँ मुख्य थे।[1] अतः अन्न तथा दुग्ध के बने हुए पदार्थ उनके मुख्य भोजन में सम्मिलित थे। आर्यों को घी खाने का बड़ा शौक था और उसी की आहुति वे यज्ञ में देवताओं को भी देते थे। जौ आदि भून कर तथा पीस कर दोनों प्रकार से काम में लाये जाते थे। पीसे आटे की रोटी बनाने की क्रिया भी वैदिक आर्यों को ज्ञात थी। वे लोग मांसाहारी भी थे। विविध शाक, फल तथा कन्दमूल उनके नित्य के भोजन के अंग थे।

पेय पदार्थों में सर्व प्रमुख वस्तु दुग्ध थी। सोम रस का पान यद्यपि मुख्यतया यज्ञ के अवसर के लिये था किंतु इसका साधारणतया घरों में भी प्रयोग किया जाता था। सुरा अथवा आसव का ज्ञान लोगों को बहुत पहले से था, किंतु उसका प्रयोग निषिद्ध था। ऋग्वेद में मधु का भी उल्लेख मिलता है।

७—**वेशभूषा**—वैदिक आर्यों की वेशभूषा भी साधारण थी। वे लोग शरीर के ऊपरी भाग पर उत्तरीय तथा नीचे के भाग पर अधोवस्त्र धारण करते थे। सिर पर पगड़ी ( उष्णीष ) धारण करने की भी प्रथा प्रचलित थी। सूती, ऊनी तथा रेशमी सभी प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था। ब्रह्मचारी कृष्ण मृग चर्म धारण करते थे।

स्वर्ण निर्मित आभूषणों में हार, कुण्डल केयूरादि होते थे जिनको पुरुष और स्त्री दोनों ही धारण करते थे। पुरुष लोग अपने बालों का जूड़ा बनाते थे तथा स्त्रियाँ वेणी धारण करती थीं। पुरुषों में बाल बनवाने की भी प्रथा प्रचलित थी।

८—**औषधियों का ज्ञान**—उस समय वैद्यों का बड़ा आदर था। ऋग्वेद में जुड़वा अश्विन् का उल्लेख मिलता है जो रोगों को दूर करनेवाले

---

१—**व्रीहि (धान) तथा यव (जौ)—ऋग्वेद ६।३।४ गोधूम (गेहूँ) वाजसनेयि संहिता १८।१२, १९।२२**

तथा शल्यतंत्र ( Surgery ) के विशेषज्ञ थे। वैदिक साहित्य में यक्ष्मा आदि रोगों का तथा उनके निवारणार्थ अनेक पौदों एवं जड़ी बूटियों का प्रसंग मिलता है। औषधियों में अपामार्ग, कुष्ठ, एरण्ड, तिल, अश्वत्थ, बिल्व, न्यग्रोध, उदुम्बर, आमलक आदि मुख्य हैं।

## आर्थिक जीवन—

**धन के प्रकार तथा उसका विनिमय**—जनता की मुख्य सम्पत्ति पशु तथा दास दासी थे। भमि व्यक्तिगत संपत्ति समझी जाती थी। पालतू पशुओं में गाय, बैल, घोड़ा, भैंस, भेंड़, बकरी आदि थे। यद्यपि दास दासी संपत्ति समझे जाते थे किंतु ग्रहस्थ लोग भी सभी साधारण कार्य करते थे।

यद्यपि वैदिक साहित्य में सिक्कों का उल्लेख मिलता है किंतु उस समय वस्तु-विनिमय ( अदला बदली, Barter ) अधिक प्रचलित था। वस्तु-विनिमय का मुख्य साधन गौ थी। लेन देन की प्रथा भी उस समय समाज में प्रचलित थी। ऋण का मुख्य कारण द्यूत क्रीड़ा होती थी। ऋणी यदि ऋण नहीं चुका पाता था तो उसे दासत्व स्वीकार करना पड़ता था।

## संपत्ति के साधन—

**कृषि तथा पशु पालन**—कृषि तथा पशु पालन उस समय की मुख्य जीविका थी। खेती के लिये किसान केवल वृष्टि के सहारे ही नहीं रहते थे बरन् सिंचाई भी करते थे। इस सम्बन्ध में कुल्या अर्थात् एक प्रकार का कृत्रिम जल प्रवाह और कुओं का उल्लेख है। कुएँ ऊपर से ढक दिये जाते थे और एक पहिये द्वारा उनमें से पानी खींचा जाता था। पशु-पालन के अतिरिक्त लोग मृगया भी करते थे किंतु गौ को नहीं मारते थे। गौ को वेद में 'अघ्न्या' अर्थात् न मारी जाने वाली कहा गया है।

**शिल्प**—

वेदों के समय में बहुत से शिल्प प्रचलित थे और शिल्पियों का आदर किया जाता था। युद्ध के लिये रथों तथा खेती के लिये हलों की आवश्यकता होती थी। अतः बढ़ई का अत्यधिक सम्मान था। युद्ध एवं कृषि सम्बन्धी वस्तुओं के लिये लोहार (कर्म्मार) की आवश्यकता थी। धातु के प्रयोगों के

जाननेवाले विभिन्न धातुओं से बर्तनों का निर्माण करते थे और कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता था। उस समय भारत में वन्य कपास भी उपलब्ध था जिसका उल्लेख उस समय संसार के किसी भी अन्य देश के ग्रंथ में नहीं प्राप्त होता है। अतः यहाँ पर बुनाई और कताई का भी काम होता था। सूती कपड़ों के अतिरिक्त ऊनी कपड़े भी बिने जाते थे। चमड़ा पकाने तथा उसे रँगने के कार्य को भी कम महत्व नहीं दिया जाता था। स्त्रियाँ चटाई आदि बुनने का कार्य जानती थीं।

### व्यापार तथा विदेशों से सम्पर्क—

वैदिक काल में जल तथा स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। स्थल के लिये गाड़ियाँ तथा पशु प्रयोग में लाये जाते थे। जल मार्ग से व्यापार केवल नदियों तक ही सीमित न था वरन् आर्यों की नावें समुद्र के किनारे-किनारे भी व्यापार के लिये जाती थीं। भारतीय आर्य व्यापार के लिये बेबीलोन तथा एशिया माइनर तक जाया करते थे।

### धार्मिक जीवन—

धर्म शब्द संस्कृत की धृ ( धारण करना ) धातु से बना है। धर्म प्रजा को धारण करता है अर्थात एक सूत्र में बाँधता है और इसी धारण करने के कारण वह धर्म कहलाता है।[1] वैशेषिक सूत्र में कणाद मुनि ने धर्म को लौकिक अभ्युदय तथा परलोक में कल्याण की सिद्धि का साधन बतलाया है।[2]

वेदों के द्वारा सम्पादित होने के कारण हमारा प्राचीन धर्म वैदिक धर्म कहलाता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह किसी विशेष पुरुष के द्वारा नहीं चलाया गया। यह तो अनादि काल से चला आ रहा है। इसीलिए इसे सनातन धर्म कहते हैं और इस धर्म में सम्पूर्ण जगत के लिये उपयोगी तत्व मिलते हैं।

वैदिक धर्म का प्रथम रूप उपासना में प्राप्त होता है। देवताओं की उपासना एवं पितृ पूजा उसके मुख्य अंग हैं। वैदिक देवता की कल्पना प्रकृति

---

१—धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः।
२ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

की विलक्षण शक्तियों से होती थी। देवताओं की मूर्त्तियाँ भी थीं या नहीं इस बात का पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। देव-कल्पना में कुछ अंश काव्य-कल्पना का भी था।

सूर्य के विभिन्न रूपों, वर्षा काल के मेघों, विद्युत के प्रकाश आदि में आर्य लोग प्रकृति की दैवी शक्ति के दर्शन करते थे और उस दैवी शक्ति से कल्याण की वाञ्छा करते थे तथा उसकी तृप्ति अथवा उसकी स्मृति के लिये आहुति देते थे। यास्क मुनि के अनुसार वैदिक देवता तीन भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—

१—भूः ( पृथ्वी ) के देवता
२—भुवः ( वायु ) के देवता
६—स्वः ( आकाश ) के देवता

## पृथ्वी के देवता—

पृथ्वी के देवताओं में अग्नि देवता सर्वप्रमुख हैं। अग्निदेव की स्तुति से ही ऋग्वेद का आरम्भ होता है। वेद में २०० से अधिक मंत्र अग्नि पर मिलते हैं। प्रत्येक घर में जलने के कारण अग्नि को बहुजन्मा तथा गृहपति बतलाया गया है। अग्निदेव भूत-प्रेत आदि के नाशक तथा धन, सन्तान एवं अन्य सुखों के दाता हैं।

**आपः अथवा जल देवता**—वेद में चार मंत्र आपः देवता की स्तुति में मिलते हैं। इन्हें सुख और आनन्द का देने वाला कहा गया है। जल को अमृत, औषधि तथा माधुर्य से पूर्ण बतलाया गया है।

**पृथ्वी अथवा वसुन्धरा देवी—**

पृथ्वी देवी का ६ मन्त्रों में वर्णन मिलता है। पृथ्वी तथा आकाश समस्त देवों के माता पिता कहे गए हैं।

## वायु के देवता—

**इन्द्र**—वायु लोक के सर्वप्रमुख देवता इन्द्र हैं। इन्द्र को ही वैदिककाल में जातीय देवता माना जाता था। ये आकाश, पृथ्वी, जल, पर्वत आदि के शासक हैं। राजा लोग युद्ध में सहायता के लिये इन्द्र की स्तुति करते थे।

**रुद्र वा शिव**—ये केवल भयंकर तथा संहार करने वाले ही नहीं वरन् शान्ति और सुख के दाता हैं।

**मरुत**— इनका प्रचण्ड रूप है। ये युद्ध में इन्द्र के सहायक हैं और वेद के मुख्य देवताओं में इनकी गणना है। यही पृथ्वी पर वृष्टि कराने वाले हैं।

आकाश के देवता—

**द्यौः अर्थात् आकाश के देवता**—ये संसार के पिता के रूप में विख्यात हैं।

**सूर्य और सविता**—प्रातःकाल उषा एक सुन्दरी देवी के रूप में आती है और सूर्य देव उसका अभिगमन करते हैं। जब सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश से सम्पूर्ण संसार को जीवन दान करते हैं तब वही सविता देवता हैं। संसार के समस्त कार्यों का निरीक्षण कर जीवों में उत्साह एवं स्फूर्ति उत्पन्न करना इनका कार्य है।

**वरुण**—ये वेद के प्रधान देवताओं में से हैं। सूर्य चंद्रादि इन्हीं की आज्ञा पाकर अपने-अपने मार्ग पर चलते हैं।

**विष्णु**—इन्होंने सम्पूर्ण जगत को तीन पगों में नाप डाला। कुछ विद्वान् इन तीन पगों से सूर्य की तीन अवस्थायें—प्रातः, मध्याह्न, सायं सूचित करते हैं।

**अश्विन**— ये वेदों के प्रधान एवं प्रभात के युग्म देवता हैं। ये स्वास्थ्य को देने वाले तथा स्वर्ग लोक के वैद्य माने जाते हैं।

**उषा**— देवियों में उषा का वर्णन मिलता है। लगभग २० सूक्तों में इनकी स्तुति का गान किया गया है।

उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त नदियों, औषधियों, पर्जन्यों (बादलों) आदि का वर्णन भी देवता के रूप में प्राप्त होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वान आर्यों की विविध देवताओं की उपासना की आलोचना करते हैं किन्तु उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि आर्य लोग प्रकृति की शक्तियों को एक ही सत्ता के विविध रूप मानते थे और इस प्रकार एकेश्वरवाद की झलक मिलती है। इस प्रकार की देवोपासना समाज के उच्च श्रेणी वाले व्यक्तियों की विचार धारा को प्रकट करती है। इसको हम त्रयी विद्या अर्थात् ऋक्, यजुस् और सामवेद में प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त साधा-

रण जनता का जादू, टोना आदि में विश्वास था जिनका संग्रह अथर्ववेद में मिलता है।

देवोपासना के अतिरिक्त पितरों की उपासना भी वेदों में प्राप्त होती है। मृत पुरुषों की आत्माएँ पितृ लोक में निवास करती हैं जहाँ पर वे पृथ्वी पर वर्तमान अपने पुत्रादि द्वारा की हुई बलि पर निर्भर रहती हैं। इस प्रकार श्राद्ध, तर्पण, बलि द्वारा मृत पूर्वजों का स्मरण वैदिक संस्कृति की मुख्य विशेषता है। पितृ की कल्पना दो प्रकार की थी –( १ ) मर्त्यपितृ ( २ ) देव-पितृ। देव पितृ का स्थान मर्त्य पितृ से उच्च एवं देवों से नीचे होता है।

उपासना के अतिरिक्त वैदिक धर्म का मुख्य रूप कर्मकाण्ड है। इसके अन्तर्गत यज्ञ की प्रधानता है। यज्ञ का मुख्य ध्येय यह था कि मनुष्य को सर्वदा प्रकृति के उन जलादि तत्वों की कमी पूरी करते रहना चाहिए जिनसे उसके शरीर का निर्माण हुआ है और साथ ही साथ इन यज्ञों के मूल में सार्वजनिक कल्याण की भावना भी छिपी थी।

वैदिक धर्म का तीसरा रूप ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन है। ब्राह्मण-काल में यज्ञों के कर्मकाण्ड द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति पर विशेष बल दिया गया। उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी तत्वों के विवेचन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई। इसके अतिरिक्त इस संसार को नश्वर मानकर तथा आत्मा का नित्य एवं अमर रूप निर्धारित कर पूर्णरूप से मुक्ति के लिये आकांक्षा करने की भावना इन्हीं उपनिषदों के उपदेशों द्वारा इस युग में प्रारम्भ हुई। इस प्रकार आर्यों की अन्तर्दृष्टि ने उन्हें तत्वज्ञान की ओर भी प्रेरित किया।

इसके अतिरिक्त वैदिक युग में संस्कारों को भी विशेष महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इन संस्कारों के अन्तर्गत व्यक्ति की उन्नति एवं मंगल की भावना निहित थी तथा उनके द्वारा उसे राष्ट्र के कर्त्तव्यों का भी ज्ञान प्राप्त होता था। मुख्य संस्कार गर्भाधान, पुँसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह आदि थे। इनमें से कुछ संस्कारों का प्रचार हम आज भी देखते हैं। उस युग में शव का दाह-कर्म करने तथा उसे खोद कर गाड़ने—दोनों ही प्रथायें प्रचलित थीं। जीवन में नैतिक बल एवं आचार विचार का भी विशेष महत्व था।

## दार्शनिक विचार धारा—

वैदिक काल ही भारतीय दार्शनिक विचार धारा का मूल स्रोत है।

कालान्तर में प्रचलित षड् दर्शनों के श्रङ्कुर इसी काल में प्राप्त होते हैं। अतः इसे यदि भारतीय दर्शन का उषा काल कहें तो अनुपयुक्त न होगा। वेदों एवं उपनिषदों में प्राप्त दार्शनिक विचारों के अंकुर बाद में अनेक सम्प्रदायों में प्रस्फुटित हो गये। संसार कैसे हुआ? उसके पूर्व क्या था? और उसका रचयिता कौन है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर हमें ऋग्वेद में ही अस्फुट रूप में मिल जाता है।[1] याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रबलता के कारण पूर्व-वैदिक काल में दार्शनिक प्रवृत्ति उतनी स्पष्ट परिलक्षित नहीं होती जितनी कि उत्तर-वैदिक काल में याज्ञिक क्रियाओं के शिथिल पड़ जाने पर। जन्म, मरण तथा सृष्टि सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में ही उत्तर-वैदिक कालीन आर्य-जिज्ञासु संलग्न हो गये। अनेक व्यक्ति गृह त्याग कर वनों में उन प्रश्नों का उत्तर खोजने लगे जैसा कि उपनिषदों के जाबालि, मत्रेयी आदि के संवादों एवं कथानकों से विदित होता है! इस समय तक कर्मवाद, पुनर्जन्म, पञ्चभूत, पञ्चेन्द्रिय, आत्मा, ब्रह्म तथा सृष्टि सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों का उदय हो चुका था, जिनके आधार पर स्वतंत्र दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ! उपनिषदों में समस्त दार्शनिक उच्च विचारों की अधिकता है। सांख्य, वेदान्त आदि के दार्शनिक सिद्धान्तों की झलक यत्र तत्र उपनिषदों में प्राप्त होती है। इन विचारों का सुव्यवस्थित विवेचन आगे चल कर सूत्रकाल में आरम्भ हुआ।

### राजनैतिक जीवन—

ऋग्वेद कालीन भारत का राजनैतिक विकास निम्नलिखित समुदायों के क्रम से होता है :—

१—गृह अथवा कुल
२—ग्राम
३—विश्
४—जन
५—राष्ट्र

समाज के निर्माण में कुल अथवा परिवार का महत्वपूर्ण स्थान था जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। कई परिवार मिलकर एक ग्राम

---

१—देखिए नासदीय सूक्त ( ऋग्वेद १०, ११६)

की स्थापना करते थे। कीथ नामक पाश्चात्य विद्वान का कथन है कि पिता के मरने पर पुत्रों की अलग रहने की प्रवृत्ति रही होगी किन्तु पारस्परिक सहयोग प्राप्त करने के लिए सब लोग पड़ोस में ही अलग-अलग परिवारों में रहने लगे होंगे। इस प्रकार एक परिवार की कई शाखाओं के एकत्र रहने की भावना से ग्राम की नींव पड़ी। ग्राम का प्रमुख ग्रामणी कहलाता था। ग्राम से बड़ा समुदाय विश् कहलाता था जिसका प्रमुख विशपति होता था। विश् से बड़ा जन होता था। वैदिक साहित्य में अनेक जनों के उदाहरण मिलते हैं यथा पञ्चजनाः, यादवजन अथवा यादवाः, भारतजन आदि। राजा को जनों का रक्षक कहते थे—(गोप्ता जनस्य)। कई जनों से मिलकर राष्ट्र बनता था जिसका शासक राजा होता था।

राजा का वरण प्रजा द्वारा होता था। प्रजा या तो राजा के बड़े पुत्र को राजा बनाती थी या उत्तराधिकारी के अभाव में अपने में से किसी योग्य व्यक्ति को राजा चुनती थी। राजा चुने जाने के पश्चात् उसका राज्याभिषेक होता था।

राज्याभिषेक का कार्य बड़ा अर्थपूर्ण होता था। राज्याभिषेक सम्बन्धी समस्त क्रियाओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

१—सर्व प्रथम चुने हुए राजा को कुछ प्रारम्भिक यज्ञ करने पड़ते थे जिनके द्वारा वह पृथ्वी तथा राज्य के अन्य अंगों से अनुमति माँगता था।

२—अभिषेचनीयम् अथवा अभिषेक की मुख्य क्रिया जिसके अनुसार विभिन्न स्थानों से जल का संग्रह करके उस मिश्रित जल से राजा का अभिषेचन किया जाता था। तत्पश्चात् उसे किरीट पहनाया जाता था। तब राजा प्रजा का भली भाँति पालन करने की शपथ लेता था और अन्त में उसे राजा घोषित कर दिया जाता था।

३—**अभिषेक के बाद की क्रियायें**—इन क्रियाओं में सबसे मुख्य क्रिया यह है कि अध्वर्यु ऋत्विक् राजा की पीठ का एक दण्ड से स्पर्श कराता था। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। या तो यह कि राजा अदण्ड्य होता था अथवा यह भी कहा जा सकता है कि धर्म का पालन न करने पर राजा भी दण्डनीय होता था।

राज्य के प्रमुख अधिकारियों में पुरोहित, सेनानी (अथवा सेनापति),

ग्रामणी (गाँव का प्रमुख) आदि होते थे। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी संस्थायें थीं जिनके द्वारा प्रजा राजा के कानों तक अपनी आवाज़ पहुँचा सकती थी। इन संस्थाओं में समिति, सभा तथा विदथ के नाम मिलते हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

इस प्रकार आर्यों की शासन-व्यवस्था में पर्याप्त समुन्नत रूप मिलता है। इस सम्बन्ध में यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि उस काल में यम-नियमों के पालन की शिक्षा आरम्भ से ही दी जाती थी। आज कल विद्यालयों में न तो यम-नियम की शिक्षा ही दी जाती है, न आत्मसंयम और निष्काम सेवा की ओर ही ध्यान है। अतः वैदिक शासन गुणी तथा धर्मनिष्ठ सज्जनों के शासन पर निर्भर ह।

# रामायण तथा महाभारत

रामायण तथा महाभारत हमारे हिन्दू धर्म के आधार स्तम्भ हैं। अतः हमारे जातीय महाकाव्य होने के साथ ही साथ ये प्राचीन आदर्श इतिहास पुराण हैं। संस्कृत साहित्य को इन दोनों ही ग्रंथों से महान सामग्री प्राप्त हुई जिससे संस्कृत साहित्य इतने उच्चतम शिखर पर आरूढ़ होने में समर्थ हो सका। संस्कृत साहित्य के निम्नलिखित काव्य-पंचक के कवियों को इतने विशाल महाकाव्य रचने की प्रेरणा रामायण तथा महाभारत से ही प्राप्त हुई—

१—कालिदास का रघुवंश

२—कालिदास का कुमारसम्भव

३—भारवि का किरातार्जुनीयम्

४—माघ का शिशुपालवध

५—श्रीहर्ष का नैषधीय-चरित

इन समस्त महाकाव्यों में वर्णित अधिकाँश सामग्री रामायण और महाभारत की ही है। उदाहरणार्थ शिशुपालवध का आख्यान तथा नैषधीय-चरित में वर्णित राजा नल की कथा महाभारत से ही ली गई है। रामायण और महाभारत दोनों ही महाकाव्यों में प्रधान कथा के साथ ही साथ अनेक आख्यान भी वर्णित हैं जो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं तथा जिनका अवलोकन आज भी हम संस्कृत साहित्य के समस्त ग्रंथों में करते हैं।

इन दोनों ही महाकाव्यों में आर्य जाति के शनैः शनैः समय समय पर होनेवाले धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक आदि समस्त परिवर्तनों का विस्तृत विवेचन है। इसके अतिरिक्त पश्चात् के सम्पूर्ण साहित्य एवं सामाजिक, धार्मिक आदि भावनाओं के अमरसूत्र भी इन दोनों मे विद्यमान हैं। अतः ये भारत की जातीय आधार शिला के रूप में स्थित हैं। यही कारण है

जिससे ये इतने विशाल एवं अमर यश को प्राप्त कर सके तथा उनका स्वरूप दिग्दिगन्त व्यापी बन सका।

रामायण और महाभारत के आख्यानों में परस्पर सामञ्जस्य एवं साम्य है क्योंकि अनेक ऐसे आख्यान तथा विषय हैं जो दोनों ही में समान रूप से वर्णित हैं—यथा राम की कथा दोनों में वर्णित है, रामायण में राम द्वारा सीता का हरण और महाभारत में जयद्रथ द्वारा द्रौपदी के हरण का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार रामायण तथा महाभारत दोनों ही हमारे हिन्दू धर्म के मूलस्रोत भारतीय संस्कृति की चेतना एवं सामाजिक व्यवहारों के दृढ़ स्तम्भ सिद्ध हुए हैं।

## रामायण—

रामायण में इक्ष्वाकुवंशी राजा दशरथ एवं भगवान श्री राम के उज्वल चरित्र तथा पवित्र जीवन का चित्रण है। मूल कथा के अतिरिक्त रामायण के अन्तर्गत अनेक सुन्दर उपाख्यान हैं—उदाहरणार्थ गंगावतरण तथा विश्वामित्र वशिष्ठ का परस्पर युद्ध वर्णन।

रामायण की सम्पूर्ण कथा के दो स्वरूप हैं—

१—**स्वाभाविक**—जिसके अन्तर्गत भरत को राज्य मिलने, रामवन-गमन तथा भरत के अयोध्या में आने का वर्णन है। इसका आधार ऐतिहासिक है क्योंकि ऋग्वेद में भी इक्ष्वाकु, दशरथ तथा राम आदि नामों का उल्लेख है।

२—शेष भाग गल्प-कथा पर अवलम्बित है जिसमें कल्पना का अधिक स्थान है।

## उत्पत्ति—

रामायण हिन्दुओं का आदिकाव्य है। अतः इसके रचयिता वाल्मीकि भी आदि कवि के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। विरह-विधुर क्रौञ्च पक्षी को देखकर शोक से व्याकुल होकर अकस्मात् ही उनके मुख से—

**"मानिषाद प्रतिष्ठामगमः शाश्वतीःसमाः।**
**यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥"**

यह श्लोक निकल पड़ा। संभवतः इसी श्लोक ने वाल्मीकि को रामा-

यण ऐसा पुनीत महाकाव्य लिखने की शक्ति प्रदान की। इसी कारण रामायण की उत्पत्ति के विषय में "शोकः श्लोकत्वमागतः" अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त यदि सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाय तो हमें यह स्पष्टतया विदित होता है कि रामायण की उत्पत्ति वैदिक युग की ज्योति में ही हुई, क्योंकि इस वैदिक युग में अनेक ऐसे सूत्र प्राप्त होते हैं जो रामायण के आधार माने जा सकते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि इसके मूलग्रंथ में पाँच ही काण्ड थे, पहला तथा सातवाँ काण्ड बाद में जोड़ा गया। रामायण में लगभग २४०० श्लोक हैं।

रचना काल —

रामायण के रचनाकाल के विषय में विभिन्न मत हैं —

१—रामायण में महाभारत के वीरों का वर्णन नहीं मिलता किंतु महाभारत में रामायण के वीरों की वीरता एवं पराक्रम का वर्णन है। अतः यह स्पष्ट है कि रामायण की रचना महाभारत से पूर्व में हुई।

२—वाल्मीकीय रामायण के अनेक श्लोकों का वास्तविक रूप महाभारत में प्राप्त होता है। यह भी उसी प्रमाण को पुष्ट करता है कि महाभारत की रचना के पूर्व ही रामायण की रचना हूई थी।

३—दशरथजातक नामक जन्मकथा में राम की कुछ और रूप में कथा प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त एक स्थल पर रामायण में बुद्धदेव का वर्णन है। अतः ज्ञात होता है कि रामायण का वास्तविक अंश बौद्ध साहित्य के अधिक पहले रचा जा चुका था।

४—बौद्ध ग्रंथों से विदित होता है कि बौद्ध धर्म के ग्रंथों के रचयिता रामायण के चारण गीतों से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। अतः यह स्पष्ट है कि रामायण उस समय चाहे काव्यरूप में न हो किन्तु किसी न किसी रूप में अवश्य ही विद्यमान थी।

प्रचार —

रामायण की प्रसिद्धि अमर एवं सर्वव्यापी है तथा यह समस्त विश्व के लिये हितकारी काव्य है। इसी कारण इसका फारसी, अँग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसके

कथानक को हिन्दी में लिखकर समाज का उद्धार किया तथा हिन्दी साहित्य को अमूल्य निधि प्रदान की। रामायण के अन्तर्गत छिपे हुए अनेक आदर्श दृष्टान्त आज भी समाज को जीवन एवं गति प्रदान कर रहे हैं और प्रदान करते रहेंगे।

## महाभारत—

महाभारत के रचयिता महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास हैं। व्यास ने तीन वर्ष के निरन्तर दुःसाध्य परिश्रम के पश्चात् इस ग्रंथ को रचा, किन्तु इसकी रचना के विषय में विभिन्न मत हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान अनेक कवियों द्वारा इसकी रचना बताते हैं। महाभारत में भी लिखा है कि व्यास ने महाभारत की कथा अपने शिष्य वैशम्पायन को सुनाई, तत्पश्चात् अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय के सर्पसत्र में वैशम्पायन ने इस कथा को सुनाया। उसके बाद शौनकादि ऋषियों को लोमहर्षण के पुत्र सौति ने सुनाया। अतः इस महाभारत की कथा को तीन वक्ताओं ने कहा तथा तीन ही श्रोताओं ने सुना। इस प्रकार सम्पूर्ण महाभारत के तीन रूपान्तर हुए।

## रचना काल—

महाभारत के काल निर्णय के लिए भी विद्वानों के विभिन्न मत हैं :—

१—वैदिक साहित्य में यद्यपि 'भारत' अथवा 'महाभारत' का नाम कहीं पर भी नहीं आया है किंतु ब्राह्मण ग्रंथों तथा वेदों में कुरु, पाञ्चाल आदि के नाम आये हैं और धृतराष्ट्र, जनमेजय, भरत आदि नामों का विवरण मिलता है। इसके अतिरिक्त पाणिनि[1] ने भी भीम, युधिष्ठिर, विदुर आदि शब्दों की व्युत्पत्ति बताई है तथा पतञ्जलि ( १५० ई० पू० ) ने महाभारत के युद्ध का वर्णन किया है। अतः स्पष्ट है कि लगभग १००० ई० पूर्व उत्तर-वैदिक काल में इसके कुछ ऐतिहासिक कथानक तथा आख्यान विद्यमान थे। सांख्यायन श्रौतसूत्र[2] में कुरुक्षेत्र के उस युद्ध का वर्णन है जिस युद्ध में कौरवों का सर्वनाश हो गया था।

२—सुबन्धु और बाण भट्ट[3] ( ६००-६५० ई० ) ने भी अपने

---

१—८।३।६५; ३।२१।६२; ६।२।३८

२—१५।१६

३—हर्षचरित के आरम्भ के पद्य ४-१०

ग्रन्थों में महाभारत की शैली का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट है कि वे लोग उसके काव्य के रूप से परिचित थे ।

३— कम्बोडिया के एक शिलालेख ( ६०० ई० ) से यह स्पष्ट होता है कि महाभारत का प्रचार छठी शताब्दी में भारत के बाहर अन्य देशों में हो चुका था ।

४—गुप्तकालीन एक लेख में महाभारत का 'शतसाहस्र्यां संहितायां' इस प्रकार से उल्लेख है ।

५—पाश्चात्य विद्वान कुछ शिलालेखों एवं साहित्यिक प्रमाणों द्वारा महाभारत के वर्तमान रूप का निर्धारण ईसा की चौथी शताब्दी तक करते हैं ।

## सामाजिक जीवन—

रामायण तथा महाभारत में तत्कालीन भारतीय समाज का अत्यन्त सजीव, विशद् एवं सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है । उस समय समाज में वेदाध्ययन, व्रत, नियम-पालन, यज्ञ, दान कर्म आदि प्रचलित थे । सामाजिक व्यवस्था का आधार वर्ण व्यवस्था ही थी । वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत आदि कर्मों को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ही कर सकते थे । ब्राह्मणों के स्वाध्यापन, अध्यापन, तपस्या, प्रतिग्रह आदि मुख्य कर्तव्य निश्चित थे । यजमान और पुरोहित का कार्य ब्राह्मण ही कर सकते थे किंतु उस समय वर्ण व्यवस्था का इतना जटिल रूप न था । ब्राह्मणों को अन्य जातियों के कार्यों को भी सम्पादित करने का अधिकार था जिसके फलस्वरूप उस समय के ब्राह्मण कर्मानुसार पाँच भागों में विभक्त थे —

( १ ) देव ब्राह्मण ( २ ) मुनि ब्राह्मण ( ३ ) द्विज ब्राह्मण (४) क्षात्र ब्राह्मण ( ५ ) वैश्य ब्राह्मण । देव ब्राह्मण नित्य स्नान, संध्या, जप, तप आदि कर्म करता था तथा सदाचारी एवं सत्यवादी होता था । मुनि ब्राह्मण वन में रह कर तपस्या करता था तथा फलाहार करता था । द्विज ब्राह्मण वेदान्त का अध्ययन करता था और योग का चिन्तन उसका प्रधान कर्म था । क्षात्र ब्राह्मण क्षत्रिय की भाँति अस्त्र धारण करता तथा वैश्य ब्राह्मण गो पालन कर जीविका चलाता था ।

उस समय ब्राह्मणों में त्याग भावना, धर्म में तत्परता, निःस्वार्थ राज-

सेवा आदि मुख्य भावनाओं का आधिक्य था। समाज में ब्राह्मणों को पूज्य समझा जाता था। उनका वध वर्जित था। रामचंद्र को भी रामायण में 'ब्राह्मणानामुपासकः' कहा गया है। पुरोहितों को आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। महर्षि वशिष्ठ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

क्षत्रियों का मुख्य कर्त्तव्य प्रजा-रक्षण था। रामायण में श्री राम का कथन है कि क्षत्रिय धनुष इसलिये धारण करता है जिससे विश्व में 'आर्त' शब्द का लोप हो जाय।

"क्षत्रियैर्धार्यंते चापो नार्तशब्दोभवेदिति"

क्षत्रिय को दान देने का अधिकार था लेने का नहीं।

वैश्य कृषि, व्यापार एवं पशु पालन करते थे। उस समय वैश्य नगर के शक्तिशाली नागरिक होते थे। वैश्यों के व्यापारिक संघ थे जिनमें 'श्रेणी', 'गण' आदि मुख्य थे।

शूद्र सेवा का कार्य करते थे। उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार न था। चाण्डाल समाज में घृणित समझे जाते थे।

## कौटुम्बिक जीवन—

उस समय भारत में संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी। पिता परिवार का मुखिया था। ज्येष्ठ पुत्र का परिवार में महत्वपूर्ण स्थान था। पुत्र प्राप्ति का उद्देश्य पारलौकिक सुख था। दीर्घ तपस्या तथा साधना के पश्चात् धर्म-सम्पन्न पुत्र की प्राप्ति होती थी। इसके अतिरिक्त कभी-कभी संयुक्त परिवार के अन्तर्गत ईर्ष्या के कारण वैमनस्य की भावना का भी समावेश हो जाता था। उदाहरणार्थ दुर्योधन ने ईर्ष्यावश ही पाण्डवों का सर्वनाश करना चाहा जिसके फलस्वरूप महाभारत का युद्ध हुआ।

## विवाह—

लौकिक एवं पारलौकिक सुख तथा कुटुम्ब को स्थिर रखने के लिये विवाह सब जातियों के लिये अनिवार्य था। प्रत्येक कन्या तथा पुत्र का विवाह उचित अवस्था प्राप्त हो जाने पर होता था। कन्याओं को पतिवरण की पूर्ण स्वतंत्रता न थी। विवाह के लिये स्वयम्वर की प्रथा थी जिसके अन्तर्गत लड़की का पिता कोई शर्त रखता था और जो उसे पूरा करता था उसी के

साथ उसका विवाह हो जाता था। रामायण तथा महाभारत दोनों में ही सीता तथा द्रौपदी आदि के विवाह इसी प्रकार हुए थे। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में विवाह मांगलिक समझा जाता था।

वर्ण-व्वस्था की समस्या जटिल न होने के कारण प्राचीन आर्य विविध लोगों से सम्पर्क रखते तथा विवाह करते थे जिसके फलस्वरूप समाज में विवाह की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हो गयीं जिनमें आठ प्रकार के विवाह सर्वप्रमुख थे—

१—ब्राह्म २—प्राजापत्य ३ - आर्ष ४—दैव ५—आसुर ६—गान्धर्व ७ – राक्षस ८—पैशाच।

ब्राह्म विवाह में पिता अपनी कन्या को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर किसी योग्य वर को देता था। प्राजापत्य धर्म की वृद्धि के हेतु जब कन्या सुयोग्य वर को अर्पित की जाती थी वह विवाह प्राजापत्य कहलाता था। गौ आदि भेंट करके जब वर कन्या से विवाह करता था वह आर्ष तथा यज्ञ के समय ऋत्विक्-जामाता को आभूषणों से सुसज्जित कन्या देने को दैव विवाह कहते थे। ये चार विवाह शास्त्रों के अनुसार धर्मानुकूल थे। आसुर विवाह में वर कन्यापक्ष को धन धान्य से सन्तुष्ट कर विवाह करता था। परस्पर स्वच्छन्द प्रेम के कारण अपने मन से विवाह कर लेने को गान्धर्व, कन्या को बलपूर्वक हरण कर विवाह करने को राक्षस तथा मदिरा से उन्मत्त कन्या से विवाह कर लेने पर वह विवाह पैशाची कहलाता था। ये चार विवाह धर्मानुकूल तो नहीं थे किन्तु कानून की दृष्टि में उस समय के समाज में मान्य थे।

रामायण-महाभारत काल में स्त्रियाँ पतिपरायण तथा पतिव्रता थीं। स्वामी का त्याग उनके लिये वर्जित था। राजाओं में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी—उदाहरणार्थ राजा दशरथ ने तीन विवाह किए थे। महाभारत में वर्णित है कि द्रौपदी के पाँच पति थे। इससे विदित होता है कि समाज में बहुपति-विवाह की भी प्रथा प्रचलित थी। किंतु श्रीराम ने एक पत्नीव्रत का पालन कर उच्च आदर्श स्थापित किया।

प्रेम का आदर्श अत्यन्त उत्कृष्ट था किंतु साथ ही साथ व्यावहारिक भी था। स्त्रियों में काम-वृत्ति का होना बुरा समझा जाता था।

### स्त्रियों की स्थिति—

स्त्रियों की दशा समाज में अच्छी थी। अविवाहित कन्यायें देविय*

समझी जाती थीं। क्षत्रिय राजकुमारियाँ शस्त्र विद्या का अभ्यास करती थीं। वैवाहिक जीवन में स्त्री का पति ही सर्वस्व था। विधवाओं का समाज में अनादर न था। प्रत्येक उत्सव, यज्ञ, भोज, राज्याभिषेक आदि के समय स्त्री का पति के साथ रहना आवश्यक था।

आहार विहार—

प्राचीन आर्य स्वास्थ्य वर्धक एवं स्वादपूर्ण भोजन के प्रेमी थे। विशेषकर चार प्रकार के भोजन प्रचलित थे—भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य। व्यक्तियों का मुख्य आहार गेहूँ तथा चावल था। चावल के बने कृशर (दूध की खिचड़ी), मृष्टान्न (चावल के मालपुए), पायस (खीर) को लोग अधिक पसन्द करते थे। तेल, घी, लवण, खटाई, मिर्च आदि का भी प्रयोग होता था। रसोइये भोजन के विषय में अत्यन्त प्रवीण थे। ब्राह्मण शाकाहारी थे। आम्र, बेर, कदली, आदि फल खाये जाते थे। भोजन का कार्य भी एक यज्ञ के समान था क्योंकि समस्त देवी देवताओं, पितर, वृद्धों तथा पशु-पक्षियों आदि को देकर तब भोजन किया जाता था।

मनोरंजन के साधनों में गोष्ठियाँ होती थीं। राजा के साथ विदूषक रहते थे जो राजाओं का समय समय पर मनोरंजन किया करते थे। महलों में पक्षी पाले जाते थे। इसके अतिरिक्त नृत्य, संगीत, नाटक तथा उद्यान-विहार द्वारा भी मनोरंजन होता था। द्यूत, शतरंज तथा मृगया आदि का भी अत्यधिक प्रचार था। द्यूत के ही कारण पाण्डवों को वनवास हुआ था तथा द्यूत में ही द्रौपदी को दाँव पर हारने के कारण दुःशासन द्वारा उसका अपमान हुआ। इससे स्पष्ट है कि राजा लोग द्यूत के अत्यन्त प्रेमी थे।

वस्त्र आभूषण—

नागरिक रेशमी, सूती तथा चमकीले वस्त्र धारण करते थे। स्त्री पुरुष दोनों ही दो वस्त्र धारण करते थे—उत्तरीय तथा अधोवस्त्र। दोनों का आभूषणों के प्रति प्रेम था। पुरुष भी कंकण, कुण्डल, हार आदि आभूषण धारण करते थे, यहाँ तक कि हाथी घोड़ों आदि को भी आभूषण पहनाये जाते थे। स्वर्ण-निर्मित आभूषणों के अतिरिक्त हीरे जवाहिरात-जटित आभूषणों का भी प्रयोग होता था। इन आभूषणों में राजा का मुकुट तथा पादुकायें रत्न जटित होती थीं। पुष्प-निर्मित-मालाओं का भी प्रयोग होता

था। चंदन, अंगराज, तथा और अनेक प्रकार के लेपों का प्रचार था जो सभी पुरुष तथा स्त्रियाँ करती थीं।

## शिष्टाचार—

यह काल मुख्यतः शिष्टाचार का ही युग था। समाज में सर्वत्र मधुर संवाद एवं विनम्र व्यवहार प्रचलित थे। उस समय के व्यक्ति कामी, कृपण, क्रूर तथा मूर्ख न थे जैसा कि रामायण तथा महाभारत में वर्णित भगवान राम, दधीचि, राजा शिवि, राजा रन्तिदेव आदि के पावन चरित्रों से प्रकट है। अतिथियों का पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क, गौ तथा आसन द्वारा सत्कार होता था। लोकाचार तथा लौकिक समय का पालन अनिवार्य था। प्रणाम, प्राञ्जलि, अंजलिपुट, प्रणिपात तथा नामोच्चारण द्वारा सम्मान प्रकट किया जाता था। रथ या वाहन पर चढ़ते समय प्रदक्षिणा होती थी। दुःख प्रकट करने के लिये 'हड़ताल' प्रचलित थी। जलूसों का उस समय में बड़ा महत्व था।

## साहित्य और कला—

रामायण एवं महाभारत कवि-कलाकारों की मनोहर रचनायें हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों का सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में एक उच्च स्थान है। उस युग में समस्त व्यक्ति शिक्षित एवं सभ्य थे। उस समय भारत शिक्षा का महान केन्द्र था। काव्य के अतिरिक्त आख्यान, इतिहास, नक्षत्र-विद्या, ज्योतिष, आयुर्वेद, प्राणिशास्त्र, अंकगणित, रेखागणित आदि विज्ञानों का भी पठन पाठन उस समय के आर्य करते थें।

उस समय कला का भी अत्यधिक प्रचार था क्योंकि स्थापत्य कला, चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, नाट्य शाला तथा नृत्य जैसे कलात्मक विषयों से संबन्धित सामग्री रामायण तथा महाभारत दोनों में ही उपलब्ध होती है। अतः यह स्पष्ट है कि वेद, वेदाङ्ग, काव्य साहित्य, अर्थशास्त्र के अतिरिक्त उस समय के व्यक्ति ललित कलाओं का भी अभ्यास करते थे। कवि योग द्वारा कला की वस्तु से अपना निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर भक्ति द्वारा उसे मूर्त रूप देने का प्रयास करता था। रामायण की रचना में बाल्मीकि ने इन्हीं दोनों मार्गों का अनुसरण किया था।

धार्मिक जीवन—

उस काल में वेदों का महात्म्य सर्वव्यापी था। समाज में संस्कारों पर विशेष महत्व दिया जाता था जिनमें गर्भाधान, जातकर्म, चूडाकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह आदि सर्वप्रमुख हैं। गृह-प्रवेश के समय 'वास्तु-शांति' तथा नई फसल घर लाने के पूर्व 'आग्रयण' संस्कार कर देवताओं को प्रसन्न कर उनसे अपनी रक्षा तथा उन्नति की कामना की जाती थी। उस समय स्नान, अर्घ्य, तर्पण, मार्जन, प्राणायाम, अग्निहोत्र, गायत्री मंत्र का जप तथा देवों की उपासना आदि धार्मिक कृत्य समाज में प्रचलित थे जो आह्निक कृत्य कहे जाते थे। श्राद्धादि कर्मो का सम्पादन प्रत्येक व्यक्ति करता था। प्रार्थना का विशेष महत्व था। मन्दिरों में उपासना की प्रथा प्रचलित थी जिसका रामायण में यत्र तत्र उल्लेख मिलता है। गंगा, यमुना, वटवृक्ष, गया, चित्रकूट आदि पवित्र माने जाते थे। उस समय नैतिकता अत्यन्त उत्कृष्ट पद पर पहुँच गई थी क्योंकि समस्त व्यक्ति सत्यवादी, शिष्ट, मधुर भाषी, निर्लोभी, कृतज्ञ एवं प्रतिज्ञा-पालक थे। राजा के व्यक्तित्व को महान आदर प्राप्त था। व्यक्तियों की कर्म-सिद्धान्त पर अधिक आस्था थी।

उस समय पाँच प्रकार के यज्ञ आर्य लोग करते थे। १—देवयज्ञ जिसमें प्रातः और सन्ध्या दोनों समय अग्न्याधान द्वारा हवन होता था। २—ऋषि यज्ञ—इसमें धार्मिक ग्रन्थों एवं शास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन करके उन्हीं का अनुशीलन किया जाता था। ३—पितृ यज्ञ—इसमें तर्पण द्वारा पितरों को प्रसन्न किया जाता था। ४—नृ-यज्ञ—इसके द्वारा अतिथि सत्कार होता था। ५—भूत यज्ञ-इस यज्ञ द्वारा भूतों तथा अन्य प्राणियों को बलि द्वारा संतुष्ट किया जाता था। इन पंच महायज्ञों का सम्पादन प्रत्येक गृहस्थ पुरुष के लिये अत्यन्तावश्यक था।

इस प्रकार उस समय धर्म सामाजिक जीवन का प्रधान अंग बन गया था—

**"धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।"**

इसी प्रकार के पुत्रधर्म, पत्नीधर्म, पितृधर्म, राजधर्म, स्त्री धर्म, शरणागतधर्म, सेवकधर्म आदि के ज्वलन्त उदाहरण हमें रामायण तथा महाभारत दोनों में ही प्राप्त होते हैं।

## राजनैतिक जीवन—

इस युग का राजनैतिक जीवन वैदिककाल की अपेक्षा अधिक दृढ़ होगया था। वैदिक युग में राज्य अत्यन्त छोटे छोटे होते थे किन्तु इस समय में इक्ष्वाकु वंशी राजा रघु तथा पौरव वंशी राजा भरत ऐसे पराक्रमशाली एवं महत्वाकांक्षी राजाओं ने अपने पड़ोस के अनेक राजाओं को परास्त कर उनके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया जिसके फलस्वरूप राज्य का विस्तार होने लगा। इन वीर राजाओं के राज्य में अनेक 'जन' तथा 'जनपद' सम्मिलित थे। वैदिक युग में राज्य का समस्त कार्य सभा तथा समितियों द्वारा होता था किंतु जैसे राजाओं की शक्ति की वृद्धि होती गई और उनका साम्राज्य विस्तृत होता गया वैसे ही वैसे शासन-व्यवस्था में भी परिवर्तन होता गया। इस समय से राज्य का कार्य 'पौर' तथा 'जानपद' सभाओं द्वारा संचालित होने लगा। इनमें विविध पुरों के योग्य व्यक्ति सम्मिलित होते थे और राजा को आवश्यक विषयों पर सलाह देते थे। राजा पूर्ण रूप से स्वतन्त्र न था। प्रजा का ध्यान रखना उसका परम धर्म था। राज्याभिषेक के अवसर पर उसे कुछ प्रतिज्ञायें ग्रहण करनी पड़ती थीं जो 'समय' के नाम से प्रसिद्ध थीं। उनका जब तक वह पालन करता था तब तक वह राजा था। 'समय' के नियमों के भंग होने के साथ ही साथ राजा भी सिंहासन से अलग कर दिया जाता था। प्रजा बलि के रूप में अपनी आमदनी का छठा भाग राजा को देती थी।

# पुराण-युग

हिन्दुओं के धार्मिक तथा लौकिक साहित्य में पुराणों का विशेष महत्व है। वेदों के बाद इन्हीं को स्थान दिया जाता है। कुछ विद्वान चार वेदों के पश्चात् पुराण साहित्य को पंचम वेद भी मानते हैं,

**"ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।**
**इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते॥"**

क्योंकि जो मन्त्र वेदों में यज्ञ के समय देवताओं की स्तुति के हेतु कहे गये उन्हीं का विस्तृत अर्थ पुराणों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त हिन्दू संस्कृति का, जिसका इतना विशाल रूप दृष्टिगत होता है, साधारण जनता में प्रचार करने का श्रेय इन्हीं पुराणों को ही हैं। अतः यदि पुराणों को हिंदू संस्कृति का आधार कहें तो अनुपयुक्त न होगा।

पुराण शब्द का शाब्दिक अर्थ है पुराना—**'पुराणमाख्यानम्'** अथवा 'वह आख्यान जो प्राचीनकाल में जीवित हो,' 'प्राचीन काल से प्राणित होन के कारण इन्हें पुराण कहा जाता है। जो इसकी व्याख्या जानता है वह समस्त पापों से विमुक्त हो जाता है।'[1] अतः यह स्पष्ट ह कि प्राचीनता के आधार पर ही इनका नाम पुराण पड़ा। इनमें प्राचीन आख्यानों की विशेषता है। पुराण के ही समान इतिहास का भी नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है किन्तु इतिहास से पुराणों का क्षेत्र अधिक व्यापक है।

**परिभाषा—**

पुराणों की परिभाषा भी अनेक प्रकार से दी गई है। पुराण की साहित्यिक परिभाषा अमरकोष तथा मत्स्य, विष्णु, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में दी हुई है। उसके लक्षण इस प्रकार हैं:—

---

१—"यस्मात्पुरा ह्यनितीदं पुराणं तेन हि स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥"—वायु पुराण १।२०३

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥"

अर्थात् सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (लय और पुनः सृष्टि), वंश (देवों की वंशावली), मन्वन्तर (मनु के काल-विभाग तथा उस समय की प्रमुख विशेषतायें), वंशानुचरित (सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं के वंशवृत्त) पुराणों के ये ही पाँच मुख्य लक्षण हैं, किन्तु वर्तमान उपस्थित पुराणों में से कोई भी ऐसा पुराण नहीं जो परिभाषा के अनुसार ठीक उसी के अनुरूप हो। कुछ में तो इन पाँचों विषयों के अतिरिक्त कहीं अधिक विषयों का वर्णन है तथा कुछ में इन विषयों की कुछ भी चर्चा नहीं है। अतः यह पांच लक्षण तो केवल उपपुराणों के लिये हैं। महापुराणों के लिये तो दस लक्षणों का होना अत्यन्तावश्यक है, जिनमें इन पाँच के अतिरिक्त पाँच और लक्षण हैं—वृत्ति, रक्षा (ईश्वरावतार), मुक्ति, हेतु (जीव) और अपाश्रय (ब्रह्म)। इसके अतिरिक्त मत्स्य पुराण में ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, रुद्र की स्तुति, सृष्टि का लय तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह विषय भी आ गये हैं। अतः यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि पुराण ही हमारे सच्चे आदर्श इतिहास हैं। इनमें मानव समाज का पूर्ण इतिहास वर्णित है। सृष्टि के आदि से लेकर प्रलय तक का तथा प्रलय के पश्चात् होने वाले अन्तर का और तत्पश्चात् निर्मित सृष्टि का, देवों का तथा सांसारिक नृपों का समस्त वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है।

## पुराणों में विचित्र वर्णन—

पुराणों में कुछ अद्भुत भाग हैं जिनमें अत्यन्त विचित्र वर्णन हैं, जिनके कारण कुछ व्यक्ति तो पुराणों को नितान्त कपोल-कल्पित ही मानते हैं। वे लोग इसे पुरातन कथा मान कर उसका उपहास करते हैं किन्तु यह उचित नहीं। वे यह नहीं जानते कि हमारी प्राचीन सभ्यता का सूत्र इन्हीं पुराणों में विद्यमान है। शास्त्रों में तीन प्रकार के विषयों का वर्णन उपलब्ध होता है—आलंकारिक भाषा में स्वभाव कथन, रूपक कथन तथा अतिशयोक्ति कथन। इनमें से पुराणों के वर्णन में अतिशयोक्ति अलंकार का आश्रय अधिक लिया गया है। इसमें प्रत्येक वस्तु का विस्तृत वर्णन है। उदाहरणार्थ सूर्य की सप्तरंगों की किरणों में घोड़ों की कल्पना। अतः पुराणों को कल्पित बताते समय उन लोगों को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

**समय—**

इन पुराणों के समय निर्धारण के विषय में हमारे प्राचीन विद्वानों के विभिन्न मत हैं—

१—शंकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थों में पुराणों के भी उद्धरणों का प्रयोग किया है तथा बाण भट्ट ने हर्षचरित में अपने जन्म-स्थान में वायु पुराण की कथा को सुनने का वर्णन किया है। कादम्बरी में भी 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्' द्वारा वायु पुराण की ओर संकेत किया हैं।

२—पुराणों में वर्णित कलियुग के राजाओं के वर्णन से भी इनके काल-निर्धारण में सहायता मिलती है। मत्स्य पुराण में दक्षिण के आन्ध्र राजाओं ( लगभग २२५ ई० ) का तथा विष्णु पुराण में मौर्य वंश का प्रामाणिक इतिवृत्त वर्णित है। अतः गुप्त काल के पश्चात् इनका रचना काल कदापि निर्धारित नहीं हो सकता।

३—पुराणों का अस्तित्व महाभारत के पहले भी वर्तमान था क्योंकि महाभारत के उग्रश्रवा, शौनक तथा सूत लोमहर्षण के नाम पुराणों में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक आख्यान तथा उपदेशात्मक श्लोक दोनों में ही मिलते हैं। 'हरिवंश' में वायु पुराण के निर्देश अधिकता से वर्णित हैं। डा० लूडर्स का कथन है कि पद्म पुराण में प्राप्त ऋष्यश्रृंग का आख्यान महाभारत में वर्णित आख्यान की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। अतः यह सिद्ध है कि महभारत के बहुत पहले पुराण विद्यमान थे तथा इनमें वर्णित अधिकांश विषय महाभारत से अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक हैं।

४—कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में भी पुराणों का उल्लेख है। कौटिल्य का कथन है [1] कि उन्मार्ग पर जानेवाले राजकुमारों को पुराणों का उपदेश देकर उन्हें सत्पथ पर चलाने का प्रयास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पौराणिकों का, कौटिल्य के अनुसार, राजा के अधिकारियों में मुख्य स्थान है। अतः पुराणों की रचना कौटिल्य से पूर्व की है। कुछ विद्वान् अर्थशास्त्र की रचना तीसरी शताब्दी की कहते हैं। इसके अनुसार पुराणों का समय अवश्य ही दूसरी शताब्दी का होगा।

---

१—"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्"

( अर्थशास्त्र )

५—सूत्रकाल के समय पुराण ग्रन्थ-बद्ध हो चुके थे क्योंकि सूत्र साहित्य में भी इनका उल्लेख है। गौतम तथा आपस्तम्ब के धर्म सूत्रों में भी इनका नाम आया है जो ई० पूर्व पाँचवीं शताब्दी के हैं। गौतम के धर्म सूत्र में राजा को अपनी धर्म-व्यवस्था ठीक करने के लिये वेद, धर्मशास्त्र, वेदाङ्ग, पुराण आदि का पठन करने का उल्लेख है। आपस्तम्ब के सूत्र में पद्म पुराण के दो उद्धरण प्राप्त होते हैं तथा एक भविष्यत् पुराण का उद्धरण है। यद्यपि वर्तमान पुराणों में वह उद्धरण नहीं है फिर भी यह सिद्ध है कि सूत्र काल में पुराण अपनी ग्रन्थ-बद्ध सत्ता को प्राप्त कर चुके थे।

६—उपनिषदों में भी पुराणों का वर्णन प्राप्त होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार तथा नारद के प्रसंग में उस समय में प्रचलित अनेक शास्त्रों के नाम हैं जिनमें वेदों के बाद पुराणों का नाम भी आया है।[1]

७—अथर्व संहिता में भी पुराणों का महत्वपूर्ण वर्णन है। इस संहिता के एक मंत्र में 'उच्छिष्ट' नामक व्यक्ति से चारों वेदों की उत्पत्ति के साथ पुराणों की भी उत्पत्ति बताई गई है।[2] पुराण शब्द का अर्थ दो प्रकार से लिया जाता था—(१) एक विशेष प्रकार की साहित्यिक रचना (२) आख्यानों से पूर्ण ग्रन्थ विशेष। अतः वर्तमान पुराणों का भी यही अर्थ है।

८—ऐतिहासिक आधार पर कुछ समय पहले विद्वानों का मत था कि साहित्य में पुराणों की रचना सबसे बाद में हुई किंतु अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों का भी उल्लेख इन पुराणों में प्राप्त है, अतः यह मत निर्मूल है।

९—आधुनिक विद्वानों के भी पुराणों के विषय में विभिन्न मत हैं जो समय समय पर परिवर्तित होते रहे हैं। पुराणों में कलाओं तथा ऐतिहासिक घटनाओं के सम्मिश्रण से उनकी 'युगों' के सम्बन्ध में विचित्र कल्पना हो गई थी जिसके कारण भारतीय इतिहास के संशोधन के आरम्भ काल में (ईसा के १८ वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों) तथा १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में पुराणों का कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं था। पीछे 'कैप्टेन

---

१—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं चतुर्थमिति-
हास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्॥"—छान्दोग्य ७।१।२

२—"ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥"—अथर्व ११।७।२४

स्पेक' ने नूबिया (कुशद्वीप) में जाकर नील नदी के उद्गम स्थान में खोज की जहाँ पर उन्होंने पुराणों के अस्तित्व का समर्थन किया। तभी से पुराणों का प्रचार हुआ और इसी समय से ताम्रपत्रों तथा ऐतिहासिक मुद्राओं को खोज निकालने की प्रवृत्ति चल पड़ी।

१०—आधुनिक इतिहासकार तथा प्राच्यतत्ववित् रैपसन, स्मिथ, जायसवाल, भाँडारकर, राय चौधरी, प्रधान, रंगाचार्य, जयचंद आदि ने भी पुराणों की सत्ता मानकर अपने प्रबन्धों तथा ग्रन्थों में पौराणिक सामग्री का उपयोग किया है।

इस प्रकार मूल पुराण कहीं भी नहीं प्राप्त होते। पुराण एक शताब्दी की रचना नहीं है। समयानुसार इसमें अलग से नवीन अध्याय जोड़े गये हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में पुराणों का अस्तित्व था तथा गुप्तकाल तक इनकी रचना पूर्णतया समाप्त हो चुकी थी।

**भेद—**

पुराणों की संख्या १८ मानी गई है जो महापुराण हैं और जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१—ब्रह्म पुराण २—पद्म ३—विष्णु ४—शिव ५—श्रीमद्भागवत ६—नारद ७—मार्कण्डेय ८—अग्नि ९—भविष्यत् १०—ब्रह्मवैवर्त ११—लिंग १२—वराह १३—स्कन्द १४—वामन १५—कूर्म १६—मत्स्य १७—गरुड़ १८—ब्रह्माण्ड।

लगभग इन समस्त पुराणों में ब्रह्म का ही किसी न किसी रूप में वर्णन प्राप्त होता है—यथा "**आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते**" किन्तु कुछ विषय प्रत्येक में भिन्न हैं।

**ब्रह्म पुराण**—इसको आदि ब्रह्म अथवा आदि पुराण भी कहते है। पुराण-सम्मत समस्त विषयों का वर्णन इसमें हैं। इसके साथ ही साथ आरम्भिक अध्यायों में सृष्टि, सूर्य, तथा कृष्ण तक के चन्द्रवंशों का वर्णन है।

**पद्म पुराण**—यह सबसे बड़ा है और पाँच अध्यायों में विभक्त है—(१) सृष्टि (२) भूमि (३) स्वर्ग (४) पाताल (५) उत्तर खण्ड। रामायण तथा रघुवंश के अनुकूल श्रीराम का चरित्र भी इसमें वर्णित है।

**विष्णु पुराण**—यह वैष्णवों की मुख्य कृति है। इसमें विष्णु को एक सर्वोत्कृष्ट स्वामी माना गया है तथा संसार का निर्माता भी उन्हीं को ही माना है। इसमें ६ अध्याय हैं।

**शिव अथवा वायु पुराण**—इसमें ४ अध्याय हैं—तीन में सृष्टि का वर्णन तथा चौथे में शिव की आराधना का वर्णन है।

**श्रीमद्भागवत पुराण**—यह आज भी भारत म अत्यन्त प्रचलित है तथा इसमें विष्णु के अवतारों का वर्णन है।

**नारद पुराण**—इसमें विष्णु भगवान की स्तुतियों का बाहुल्य है और अनेक भक्ति पूर्ण कथायें हैं।

**मार्कण्डेय पुराण**—इसका नाम मार्कण्डेय ऋषि पर पड़ा है। इसमें हरिश्चन्द्र, वशिष्ठ, तथा विश्वामित्र के झगड़े का वर्णन है और गार्गी के चरित्र का भी प्रसंग है।

**अग्नि पुराण**—इसके प्रारम्भिक अध्यायों में विष्णु के अवतारों का वर्णन तथा बाद में चिकित्सा, अलंकार, छन्द, व्याकरण आदि समस्त विद्याओं का वर्णन है यथा—

"आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन्।
सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः॥

**भविष्यत् पुराण**—इसमें सृष्टि तथा विभिन्न जातियों एवं आश्रमों का वर्णन है।

**ब्रह्म वैवर्त पुराण**—इसमें ४ अध्याय हैं जिनमें क्रमशः ब्रह्मा, देवी, गणेश, और कार्तिकेय के चरित्रों का वर्णन है।

**लिंग पुराण**—इसमें शिव को सृष्टि का कर्त्ता माना है तथा वेदों की उत्पत्ति शिवलिंग से बताई है।

**वराह पुराण**—इसमें तीर्थों तथा अनेक कथाओं का उल्लेख है।

**स्कन्द पुराण**—यह केवल टुकड़ों में प्राप्त है। इसमें काशी के विश्वनाथ के मंदिर का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।

**वामन पुराण**—इसमें विष्णु के वामन अवतार का सविस्तार वर्णन है।

**कूर्म पुराण**—विष्णु के कूर्म अवतार का इसमें वर्णन प्राप्त होता है।

**मत्स्य पुराण**—इस पुराण म भगवान विष्णु के मत्स्य अवतार का वर्णन है।

**गरुड़ पुराण**—इसमें सृष्टि का वर्णन तथा कर्मकाण्ड, व्रत, फलित, ज्योतिष आदि का विशेषरूप से वर्णन है।

**ब्रह्माण्ड पुराण** -यह भी स्कन्द की भाँति अंशों में प्राप्त होता है तथा इसमें समस्त ब्रह्माण्ड का वर्णन होने के कारण इसका नाम ब्रह्माण्ड पुराण पड़ा।

उपपुराण—

इन महापुराणों के अतिरिक्त उपपुराणों की संख्या २० है जो निम्नलिखित हैं—

( १ ) सनत्कुमार उपपुराण ( २ ) नरसिंह ( ३ ) नान्दी ( ४ ) शिव धर्म ( ५ ) दुर्वासा ( ६ ) नारदीय ( ७ ) कपिल ( ८ ) मानव ( ९ ) उषनस् ( १० ) ब्रह्माण्ड ( ११ ) वरुण ( १२ ) कालिका ( १३ ) वशिष्ठ (१४) लिंग (१५) महेश्वर ( १६ ) साम्ब ( १७ ) सौर (१८) पराशर ( १९ ) मारीच (२०) भार्गव।

इन समस्त पुराणों का अध्ययन व्यक्ति अपनी निष्ठानुसार ही करता था। शिव को मानने वाले लिंग पुराण को ही पढ़ते थे। उन्हें अन्य पुराणों से कोई मतलब न था। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक पुराण की पृथक् पृथक् सत्ता थी।

उपासना पद्धति—

अवतारवाद तथा देवोपासना ही पुराणों का मुख्य विषय है। वेदों में जो उपासना परोक्ष रूप से वर्णित थी उसी का पुराणों में विस्तृत विवेचन है। शतपथ, तैत्तिरीय आदि समस्त ब्राह्मणों के अन्तर्गत समस्त अवतार आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त शक्ति, गणेश, सूर्य आदि की आराधना के भी विषय का इसमें विस्तृत वर्णन है और भगवद्सम्बन्धी लीलाओं का उल्लेख है।

पुराणों में उपास्य देवों की विभिन्नता है और वैदिक देवताओं की अपेक्षा लौकिक देवताओं की स्तुति पर अधिक बल दिया गया है। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा सृष्टि कर्त्ता, विष्णु पालन कर्त्ता तथा शिव संहार कर्त्ता है। इनमें पितरों के तर्पण तथा श्राद्ध आदि संस्कारों को विशेष महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त पुराण ज्ञान-क्षेत्र से अछूते नहीं रह गये।

इनमें भी जीवन के विभिन्न अंशों का वर्णन तथा यज्ञ, कर्म, योगनिष्ठा आदि का वर्णन विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है।

पुराण काल में जो धर्म प्रचलित था हिंदू धर्म उसी का वर्तमान रूप हैं। उस समय कोई भी हिंदू किसी भी देव में अपना विश्वास स्थापित कर, किसी भी प्रकार के यज्ञ, निष्ठा, योग द्वारा उसकी आराधना कर सकता था। अतः इसी समय से हिंदू धर्म में ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वयवाद की भावना का सूत्र पात हुआ।

इसके अतिरिक्त पुराणों का मुख्य ध्येय था जनता में भक्ति का प्रचार करना। उपनिषदों को पढ़कर जब मानव ने अपने को उस निराकार ब्रह्म की प्राप्ति में हीन सिद्ध कर दिया तो ईश्वर के सगुण रूप की भावना का आविर्भाव हुआ। तत्पश्चात् इस युग में यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। इसके अतिरिक्त तीर्थों आदि के महत्व का भी पुराणों में विस्तृत विवेचन है।

सामाजिक स्थिति—

पुराणों में वर्णित सामाजिक जीवन भी बड़े महत्व का है जिसका मूलाधार वर्णाश्रम व्यवस्था है। उस समय विवाह आदि सम्बन्धों, स्पृश्या-स्पृश्य तथा जाति भेद के नियमों में अत्यधिक कठोरता का समावेश हो गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि में छुआछूत की भावना तथा उनके बीच में खान पान सम्बन्धी नियम उग्रता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुके थे। स्त्री जाति का गौरव शनैः शनैः पतितावस्था की ओर उन्मुख हो रहा था। पुरुष समाज का भूषण समझा जाने लगा था। उस समय समाज में सती की प्रथा भी प्रचलित थी। नारदीय पुराण में उस स्त्री के त्याग देने का उल्लेख है जो चरित्र हीन हो।

समस्त वर्णों के कार्य निश्चित थें। कोई भी व्यक्ति अपने कार्यों की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता था। इसी समय से समाज में अनेक प्रकार के व्रतों एवं प्रायश्चितों का समावेश हुआ। इन सबके सम्पादन में ब्राह्मणों का सर्वोच्च स्थान था। पतितों के लिये समाज में कोई स्थान न था। उन्हें मृत समझा जाता था। विधवा विवाह का पूर्णतया निषेध था। देवता, ऋषि, पितर तथा कुल देवता का भोग लगाना एवं उनकी आराधना करना अनिवार्य था। अतिथि सेवा का पुराणों में अधिक महत्व है। मार्कण्डेय

पुराण में सत्य तथा दान पर अधिक बल दिया गया है तथा उसमें राजा हरिश्चन्द्र आदि के उदाहरणों को उपस्थित किया गया है।

समाज की ऐसी कठोर व्यवस्था में भी वर्णशंकर उत्पन्न होते थे जिनका उल्लेख अनेक स्थलों में पुराणों में मिलता हैं। समाज के समस्त नियम ब्राह्मणों द्वारा ही संचालित होते थे।

## राजनैतिक स्थिति—

पुराण-काल की राजनीति वैदिक काल की राजनीति से भिन्न थी। महाभारत काल में जो अनेक छोटे-छोटे राज्य इधर-उधर विस्तृत थे, उन्हें यशस्वी तथा प्रतापी राजा अपने वश में कर उनके अधिपति बन गए थे। वैदिक काल में राजा प्रजा द्वारा अधिष्ठित किया जाता था किन्तु इस काल में राजाओं में अपने बाहु बल पर अपने राज्य को विस्तृत करने की चेष्टा अधिक तीव्र थी। अतः इसी समय से राजा में दैवी शक्ति की कल्पना का आरम्भ हुआ। पुराण काल में राजा को देवताओं के आठ अंशों के अन्तर्गत माना जाता था। उसकी आज्ञा का कोई भी उल्लंघन न कर सकता था। राजा को प्रत्येक प्रकार का दण्ड देने का पूर्ण अधिकार था। दण्ड का विधान कठिन था। राजा ही राज्य का सर्वेसर्वा था।

इसके अतिरिक्त पुराण-काल में 'जनपदों' के स्थान पर 'महाजनपदों' की स्थापना हुई क्योंकि अपने बाहुओं के बल पर ही राजा लोग सिंहासनारूढ़ होते थे। इस समय कहीं-कहीं पर गणतंत्र भी प्रचलित था किंतु पुराणों में उसका कहीं भी विशेष उल्लेख नहीं है। अतः यही कारण है जिससे हमारे पुराण यशस्वी राजाओं की कीर्त्ति से भरे पड़े हैं।

## मुख्य प्रवृत्तियाँ—

इस पुराण काल की निम्नलिखित विशेष प्रवृत्तियाँ थीं—

१—ब्राह्मण की सत्ता तथा गौ का सर्व प्रथम स्थान था।

२—समाज में वर्णाश्रम धर्म का पालन पूर्ण रूप से होता था।

३—व्यक्तियों का ईश्वर के अवतारों, परलोक तथा वेदों पर अखण्ड विश्वास था।

४—जन्मान्तर वाद की भावना, मृत्यु के पश्चात् जीवन, श्राद्ध, पाठ, व्रत, जप, होम आदि को माना जाता था।

५—मूर्त्ति पूजा तथा सगुणोपासना प्रचलित थी ।

६—तीर्थों की पवित्रता का इस युग के व्यक्ति अनुमोदन करते थे ।

७—संस्कारों द्वारा जीवन का प्रत्येक कार्य सम्पादित होता था ।

८—जनता के हितार्थ मंदिरों, धर्मशालाओं, तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का निर्माण होता था ।

९—समाज में स्त्रियों की अवस्था पतित होती जा रही थी तथा घृणा की भावना की समाज में वृद्धि हो रही थी ।

१०—राज्यों के रूप भी परिवर्तित हो रहे थे । राजा की सत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी ।

———

# षड्-दर्शन

## भारतीय दर्शन का मुख्य ध्येय

भारत आदि काल से ही एक सुसम्पन्न एवं धनधान्य पूर्ण देश रहा है। अतः यहाँ के व्यक्तियों के लिये जीवन की समस्यापूर्ति एक साधारण बात थी। यही कारण था जिससे उन्हें सांसारिक सुखों के अतिरिक्त जीवन के जटिल रहस्यों पर भी विचार करने का समय मिला। इसके विपरीत अन्य देशों के समक्ष जीवन-समस्या (struggle for existence) की पूर्ति के ही साधन उपलब्ध न थे जिसके कारण वे सदैव सांसारिक सुखों की पूर्ति में ही तन्मय रहते थे। अतः उनका ध्यान जीवन के उन गहनतम रहस्यों की ओर आकर्षित होना अत्यन्त कठिन एवं दुःसाध्य था। इसी से यह रहस्यपूर्ण क्षेत्र जिसे हम दर्शन कहते हैं पाश्चात्य देशों में केवल विद्वानों का मनोविनोद का साधन मात्र है। दर्शन के सूक्ष्म तत्व उनके हृदय तथा मस्तिष्क का स्पर्श न कर सके। इसके विपरीत प्राचीन काल से ही भारत के लोगों का अधिकांश समय दर्शन पर विचार करने में ही व्यय होता था। इसी कारण यहाँ दर्शन का इतना व्यावहारिक तथा व्यापक रूप हो गया जिससे इसकी नींव अत्यन्त दृढ़ एवं अटल हो गई।

भारतीय दर्शन दिव्य चक्षु वाले महर्षियों की अनुपम देन है। दर्शन के अन्तर्गत कल्पना का कोई स्थान नहीं है, उसमें सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन है जो अलौकिक एवं अपूर्व ज्ञान द्वारा ही समझे जा सकते हैं। संसार में समस्त प्राणियों को तीन प्रकार की व्यथायें पीड़ित किया करती हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। दर्शन इन तीनों ही व्यथाओं से मनुष्य को निवृत्त कर उसे मोक्ष का मार्ग बतलाता है। कुछ विद्वान दर्शन को निर्वेद से संबंधित बताते हैं तथा उसे अकर्मण्य कहते हैं किंतु यह सर्वथा निर्मूल है। दर्शन मनुष्य मात्र के पग-पग पर आने वाले महान क्लेशों का विश्लेषण कर

जीवन से उदासीन हुए मानव को कर्म सिद्धान्त का सुन्दर पाठ पढ़ा कर उसे जीवन के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है और यही है भारतीय दर्शन का मुख्य ध्येय ।

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत जिन आध्यात्मिक तत्वों का विवेचन हुआ उसी के ऊपर भारतीय धर्म पूर्ण रूप से अवलम्बित है । दार्शनिक विचारों से रहित धर्म केवल नाम मात्र का धर्म है, उसकी कोई सत्ता नहीं । इसी प्रकार दार्शनिक विचारों के लिये धर्मपूर्ण आचारों की आवश्यकता है क्योंकि आचार तथा विचार में गहरा सम्बन्ध है ।

भारतीय दर्शन के दो प्रमुख स्रोत हैं—(१) आस्तिक—जो किसी न किसी रूप में वेदों को प्रमाण मानते थे । (२) नास्तिक—जो वेदों के अस्तित्व में विश्वास न करते थे । आस्तिक के अन्तर्गत दो प्रकार के विचारक थे । पहले वे लोग जिन्होंने वेदों के मूल तत्वों को आधार मानकर उन पर विचार करना प्रारम्भ किया । ये लोग मीमांसक कहलाये । मीमांसा के भी दो रूप थे—पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त । आस्तिकों की दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जिन्होंने स्वतंत्ररूप से विचार करना प्रारम्भ किया किन्तु आगे चलकर उन्हें यह विदित हुआ कि उनके विवेचन के मूल सिद्धान्तों का आधार वेद ही है । अतः उन्होंने भी अन्त में अप्रत्यक्ष रूप से वेदों की सत्ता स्वीकार कर ली । इसके अन्तर्गत चार प्रकार के दर्शन आते हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा योग । इस प्रकार आस्तिकों में छः प्रकार के दर्शन थे ।

जिन लोगों ने पूर्णतया प्रत्यक्षरूप से वेदों की सत्ता का खण्डन किया वे नास्तिक कहलाये जैसा कि इनके विषय में प्रसिद्ध है—'नास्तिको वेदनिन्दकः । इसमें चार्वाक, बौद्ध एवं जैन दर्शन आ जाते हैं । सब दर्शनों का मुख्य ध्येय जीवन के परम एवं चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है, यद्यपि सबके साधन भिन्न भिन्न हैं । अतः दर्शन न केवल ज्ञान की प्राप्ति का ही साधन है अपितु सर्वोत्कृष्ट एवं परम कल्याणकारी पद की प्राप्ति का भी उत्तम साधन है ।

---

### न्याय दर्शन—

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं । नैयायिकों का कथन है कि मिथ्या ज्ञान ही समस्त दुःखों का मूल है । इस मिथ्या ज्ञान के दूर हो जाने से दोष दूर हो जाते हैं और दोषों के दूर हो जाने से प्रवृत्ति का लोप हो

जाता है अर्थात् जब कोई दोष ही न होगा तो उसमें प्रवृत्ति किस प्रकार होगी। प्रवृत्ति के लोप हो जाने पर मानव पुनर्जन्म के चक्र से छूट जाता है और पुनर्जन्म न होने से दुखों का अन्त हो जाता है।[१] यही दोषों का अन्त ही नैयायिकों के मतानुसार मोक्ष की अवस्था है।[२]

अतः मिथ्याज्ञान को दूर कर शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति करके ही मानव मोक्ष का साक्षात्कार कर सकता है क्योंकि इस शुद्ध ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नही।[3] इस शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिए १६ पदार्थों की आवश्यकता है—

१—प्रमाण २—प्रमेय ३—संशय ४—प्रयोजन ५—दृष्टान्त ६—सिद्धान्त ७—अवयव ८—तर्क ९—निर्णय १०—वाद ११—जल्प १२—वितण्डा १३—हेत्वाभाष १४—छल १५—जाति १६—निग्रह स्थान।

उक्त १६ पदार्थो में प्रमाण सर्वप्रधान है। यह चार प्रकार का होता हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। प्रत्यक्ष का अनुभव मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा करता है—उदाहरणार्थ किसी वस्तु को आँखों से देखने पर, कान से सुनने पर, नाक से सूंघने पर, जिह्वा से रसास्वाद करने पर तथा त्वचा द्वारा स्पर्श करने पर किसी पदार्थ का साक्षात्कार होता है। उसी का नाम प्रत्यक्ष है।

अनुमान का आधार कार्य कारण की भावना है। किसी कारण को देखने पर उसके कार्य की कल्पना कर ली जाती है जैसे पर्वत शिखर पर धूम पुंज देखकर अग्नि का वहाँ पर विद्यमान होना समझ लिया जाता है क्योंकि जहाँ पर धुआँ होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगी—'**यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः।**' इसी को अनुमान कहते हैं।

उपमान का अर्थ है सादृश्य। किसी ज्ञात वस्तु के सादृश्य से अज्ञात वस्तु को जान लेना ही उपमान है—उदाहरणार्थ गौ का ज्ञान यदि हमारे मस्तिष्क में विद्यमान है और यदि कोई कहे कि स्तनरहित गौ ही बैल है तो थनरहित गौ को देखकर हम उसे बैल समझ लेते हैं।

---

१—"**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायात् अपवर्गः।**

२—**दुःखापायो मोक्षः।**

३—"**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**"

शब्द भी ज्ञान प्राप्त कराने के मुख्य साधन हैं उदाहरणार्थ इतिहास में लिखित विक्रमादित्य की प्रशंसा से हम विक्रमादित्य के ऐश्वर्य का ज्ञान कर लेते हैं, यद्यपि हम विक्रमादित्य राजा से परिचित नहीं हैं। अतः इसी को शब्द कहते हैं।

प्रमाण के अतिरिक्त प्रमेय भी ज्ञान का आधार है। उसके अन्तर्गत शरीर, आत्मा, इन्द्रियाँ, गुण, मस्तिष्क, इच्छा, मृत्यु, आनन्द आदि आते हैं। संशय और प्रयोजन भी मनुष्य को दार्शनिक शास्त्रार्थ की ओर प्रेरित करते हैं। दृष्टान्त एवं सिद्धान्त द्वारा वह उन शास्त्रार्थों के लिये साधन प्राप्त करता है। तत्पश्चात् अवयव और तर्क उसे निर्णय की ओर ले जाते हैं। वाद से लेकर स्थान निग्रह तक के पदार्थों द्वारा अनुचित विरोधियों से सत्य की रक्षा किस प्रकार की जाय इसका वर्णन किया गया है।

न्याय दर्शन की दो मुख्य धारायें हैं पदार्थ मीमांसात्मक जिसका प्रारम्भ गौतम से होता है। इसके अन्तर्गत प्रमाण, प्रमेय आदि १६ पदार्थों का पूर्ण रूप से विवेचन किया गया है। दूसरी धारा है प्रमाण मीमांसात्मक जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि चार प्रमाणों का विवेचन किया गया है। इनमें से पहली धारा को प्राचीन न्याय तथा दूसरी को नव्य न्याय कहते हैं। दूसरी धारा का प्रतिपादन मिथिला के गङ्गेश उपाध्याय ने अपने 'तत्त्व-चिन्तामणि' नामक ग्रंथ में किया।

नैयायिकों ने तीन मूल तत्त्व अथवा पदार्थ माने हैं—ईश्वर, जीव तथा प्रकृति। जीवात्मा को शरीर, मन, बुद्धि से पृथक् एक स्वतंत्र सत्ता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त ईश्वर और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध का भी पूर्ण रूप से विवेचन न्याय दर्शन में मिलता है।

गौतम के न्याय सूत्रों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से ग्रन्थ न्याय दर्शन पर लिखे गये। वात्स्यायन ऋषि ने गौतम के न्याय सूत्रों पर भाष्य लिखा। उद्योतकर ने भाष्य के ऊपर वार्तिक लिखा। तत्पश्चात् वाचस्पति मिश्र ने 'तात्पर्यटीका' की रचना की। आचार्य उदयन ने वाचस्पति के तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिये 'तात्पर्यपरिशुद्धि' नामक ग्रंथ लिखा तथा नव्य न्याय के जन्मदाता गङ्गेश उपाध्याय ने न्याय तत्त्वों के प्रकाशनार्थ 'तत्त्वचिंतामणि' की रचना की।

### वैशेषिक दर्शन -

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि थे। उन्होंने अपने वैशेषिक

सूत्रों में इस दर्शन का प्रतिपादन किया। वैशेषिक दर्शन न्याय दर्शन से अनेक सिद्धान्तों में साम्य रखता है। इसी कारण इसे 'समानतन्त्र' कहा गया है। इसमें प्रतिपादित सत्य की मीमांसा भौतिक विज्ञान के दृष्टिकोण से की गई है। न्याय का तात्पर्य अन्तर्जगत एवं ज्ञान की मीमांसा करना है किन्तु वैशेषिक का लक्ष्य वाह्य संसार का विवेचन करना है। वैशेषिक के अनुसार आत्मा का वास्तविक ज्ञान आत्मेतर पदार्थों के ज्ञान से ही सम्भव है। आत्मा तथा आत्मेतर पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य ज्ञान द्वारा तत्त्व-ज्ञान की सिद्धि होती है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार ७ पदार्थ माने गये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इसी के अन्तर्गत विशेष पदार्थ का प्रतिपादन करने के कारण ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा।

**द्रव्य के ९ भेद हैं :**—(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिक् (८) आत्मा (९) मन। इसमें से प्रथम पाँच पंचमहाभूत कहलाते हैं।

गुणों की संख्या २४ है[१] तथा कर्म के पाँच भेद हैं।[२] द्रव्य तथा गुण के मूल में स्थित साधर्म्य को ही सामान्य कहते हैं तथा इनके परस्पर के वैधर्म्य को विशेष कहते हैं। इस प्रकार सामान्य और विशेष पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना समवाय कहा जाता है। किसी वस्तु के न विद्यमान रहने को अभाव करते हैं। यह भी वैशेषिक दर्शन में एक पदार्थ माना गया है।

वैशेषिक दर्शन में निष्काम कर्मों को सम्पादित करना परमावश्यक बतलाया गया है क्योंकि इससे तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है जो मानव को मोक्ष की ओर उन्मुख करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न्याय तथा वैशेषिक दोनों ही दर्शन ज्ञान को उच्चतम स्थान देते हैं और उसे मोक्ष एवं कल्याण का उत्तम साधन बताते हैं।

---

१—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, धर्म, अधर्म, शब्द और संस्कार यह २४ गुण हैं।

२—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, और गमन ये ५ कर्म हैं जिनके अर्थ क्रमशः यह हैं—ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, संकुचित करना, विस्तार करना और गति।

कणाद मुनि के वैशेषिक सूत्रों पर आचार्य प्रशस्तपाद ने भाष्य लिखा। तत्पश्चात् व्योमशिवाचार्य ने 'व्योमवती' और उदयनाचार्य ने 'किरणावली' टीकाओं की रचना की। इसके अतिरिक्त श्रीधराचार्य की 'न्यायकन्दली' तथा बल्लभाचार्य की 'न्यायलीलावती' प्रशस्तपाद के भाष्य की मुख्य एवं प्रसिद्ध व्याख्यायें हैं।

## सांख्य दर्शन—

इसके प्रवर्तक कपिल मुनि हैं। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष दो मुख्य तत्व माने गये हैं। प्रकृति जड़ है तथा पुरुष चेतन, प्रकृति एक है और पुरुष अनेक। इन मूल तत्वों के सम्बन्ध स्वरूप जगत की सत्ता है। प्रकृति में सत्व, रजस्, तमस् तीन गुण वर्तमान हैं। ये तीनों गुण साम्यावस्था में विद्यमान रहते हैं। सृष्टि का उदय इन तीनों गुणों में वैषम्य होने के कारण होता है। प्रकृति और पुरुष के योग से बुद्धि, और बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार में सत्व की प्रधानता होने से ग्यारह इन्द्रियों[1], और तमस् की प्रधानता होने से पञ्चतन्मात्र[2] तथा पञ्चमहाभूतो[3] की उत्पत्ति होती है। प्रकृति और पुरुष का संयोग अंधे के कंधे पर बैठे हुए लँगड़े के समान है। जिस प्रकार अंधे व्यक्ति का लँगड़े के बिना कोई अस्तित्व नहीं और न लँगड़े का अंधे के बिना कोई अस्तित्व है, इसी प्रकार पुरुष और प्रकृति में भी सम्बन्ध है। पुरुष के बिना प्रकृति निश्चेष्ट है।

सांख्य का मुख्य सिद्धांत सत्कार्यवाद है। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य कारण में अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है, उदाहरणार्थ बीज रूप कारण सामग्री में कार्य रूप वृक्ष निहित रहता है अथवा तिल्ली में तेल वर्तमान है तभी उसमें से तेल निकलता है अन्यथा बालू की राशि से भी तेल निकल आवे।

कपिल के मतानुसार ज्ञान की वृद्धि और इन्द्रियों के दमन से गुण तथा दोष का विनाश हो जाता है। इस विनाश से मानव को संसार के प्रति उदासीनता हो जाती है और वह अपने अन्तस्थ पुरुष में लीन हो जाता है। इस प्रकार उसे कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

---

१—५ कर्मेन्द्रियाँ तथा ५ ज्ञानेंद्रियाँ और मन

२—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श

३—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश

कपिल मुनि का सांख्य सम्बन्धी ग्रंथ 'सांख्यसूत्र' है। इनके मुख्य शिष्य आसुरि थे तथा आसुरि के शिष्य पंचशिख थे जिन्होंने षष्टितन्त्र की रचना की किन्तु वह अभाग्यवश अनुपलब्ध है। उपलब्ध ग्रन्थों में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वाचस्पति मिश्र की 'तत्वकौमुदी' सांख्यकारिका पर विख्यात टीका है।

### योग दर्शन—

योगदर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि थे। सांख्य दर्शन तथा योग-दर्शन में विचार की दृष्टि से अधिक भेद नहीं है। चित्तवृत्तियों के कारण ही संसार में कर्मबन्धन होता है, अतः इन्हीं चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है—

"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"

क्योंकि इससे क्लेशों का नाश एवं जीवात्मा और परमात्मा का योग होता है। चित्त-वृत्तियाँ पाँच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति। योग में केवल तीन प्रमाण माने गए है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। विपर्यय मिथ्या ज्ञान है। इसके द्वारा अपने स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं होता। विकल्प उस ज्ञान को कहते हैं जिसमें ज्ञेय की कोई सत्ता न हो। निद्रा का आलम्बन अभाव प्रत्यय है। स्मृति में अनुभवसिद्ध विषय का ध्यान होता है।

इन चित्तवृत्तियों का निरोध करने के लिए योग दर्शन ने आठ प्रकार के योगों का उल्लेख किया है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि। इसके अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह इन पाँच यमों का पालन कर व्यक्ति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान इन पाँच नियमों द्वारा शुद्ध होकर चित्त-वृत्तियों को रोकने का प्रयास करता है जिसके लिए वह एक स्थान पर विशेष रूप से बैठता है जिसे आसन कहते हैं। इस अवस्था में श्वास प्रश्वास पर जो नियंत्रण होता है वह प्राणायाम कहलाता है। विषय वासनाओं के दूर हो जाने पर इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। इस दशा को प्रत्याहार कहते हैं। किसी निश्चित स्थान पर मन स्थापित करने का प्रयास करना धारण कहलाता है। मन के एकाग्र हो जानें पर ध्यान की अवस्था को प्राप्त कर, समस्त चित्त-वृत्तियों पर विजय प्राप्त करके वह समाधिस्थ होता है—और

चित्त वृत्तियों के पूर्ण निरोध ही को योग अथवा समाधि कहते हैं। इसी अवस्था में कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

योगदर्शन के ग्रंथों की संख्या बहुत थोड़ी है। पतञ्जलि के योगसूत्रों पर व्यास ऋषि ने भाष्य लिखा। ये व्यास पुराणकार व्यास से भिन्न थे। योगभाष्य पर वाचस्पति मिश्र ने "तत्ववैशारदी" और विज्ञान मिश्र ने "योगवार्तिक" नाम की टीका लिखी।

## मीमांसा दर्शन—

**पूर्व मीमांसा**—वैदिक साहित्य में क्रिया रूप में 'मीमांसते' आदि तथा संज्ञा रूप में 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'मीमांस्' धातु का प्रयोग विचार के अर्थ में हुआ है।[1] अन्य दर्शन दार्शनिक तत्वों की खोज के लिये उपनिषदों का आश्रय लेते हैं किन्तु पूर्वमीमांसा ब्राह्मण ग्रन्थों का आश्रय लेता है। वेदों का प्रथम अथवा मुख्य भाग कर्मकाण्ड होने के कारण उससे सम्बन्धित मीमांसा को पूर्वमीमांसा कहते हैं तथा वेदान्त का ज्ञानकाण्ड से सम्बन्ध होने के कारण उसे उत्तरमीमांसा कहते हैं। कुछ विद्वान जैमिनि के पूर्व-मीमांसा का प्रतिपादन वेदान्त से पूर्व का मानते हैं और इस कारण वे पूर्व-मीमांसा कहते हैं, किन्तु इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

पूर्वमीमांसा को कर्ममीमांसा भी कहते हैं। जैमिनि के सूत्रों में यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड के विवेचन एवं महत्व का वर्णन है।

प्रश्न यह उठता है कि जब पूर्वमीमांसा में केवल कर्मकाण्ड का ही वर्णन है तो उसे दर्शन की कोटि में क्यों गिना गया। इस शंका का समाधान इस प्रकार हो सकता है कि वेद की याज्ञिक क्रियाओं के अतिरिक्त जैमिनि ने यत्र-तत्र दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। बाद में टीकाकारों ने पूर्वमीमांसा को पूर्णरूप से दर्शन का रूप प्रदान किया। पहले पूर्वमीमांसा की यज्ञों द्वारा प्राप्य स्वर्ग में अभिरुचि थी, किन्तु बाद के भाष्यकारों और टीकाकारों ने मीमांसाशास्त्र के अन्तर्गत मोक्ष का भी प्रवेश कराया।

मोक्ष के विषय में पूर्वमीमांसा का मत है कि जब आत्मा सुखदुःखादि नश्वर धर्मों से छुटकारा पा जाती है तभी वह मुक्त कहलाती है और इस

---

१— तैत्तिरीय संहिता (७—५।७।१), ताण्ड्य ब्राह्मण ६।५।६

मुक्त दशा में केवल स्वाभाविक धर्म, ज्ञान, शक्ति, सत्ता, द्रव्यत्व आदि शेष रह जाते हैं।

मुक्ति प्राप्त करने के लिये नित्य कर्मों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देना ही उचित है। काम्य कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति होती है जो मोक्षार्थी के लिये उचित नहीं है। निषिद्ध कर्मों से जीव अधोगति को प्राप्त होता है। अतः मुक्ति के समय तक जीव को नित्य कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि कर्म से प्राणी बँधता है—

**"कर्मणा बद्ध्यते जन्तुः।"**

जैमिनि के सूत्रों पर भाष्य लिखने वाले शबर मुनि हैं। शबर मुनि के भाष्य पर कुमारिल भट्ट और प्रभाकर भट्ट की व्याख्याय अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

### वेदान्त अथवा उत्तरमीमांसा—

वदान्त दर्शन के प्रवर्तक महर्षि वादरायण व्यास थे। वेदान्त का अर्थ है वेदों का अन्त। इससे दो तात्पर्य प्रकट होते हैं—वेद का अन्तिम भाग अथवा वेद का अन्तिम एवं उच्चतम ध्यय। इस प्रकार अपने नाम से ही वेदान्त दर्शन वेद की सत्ता को स्वीकार करता है।

वेदान्त दर्शन में उपनिषदों की दार्शनिक विचार धारा का विकसित रूप मिलता है। उपनिषदों के दार्शनिक तत्व जो इधर उधर बिखरे हुए मिलते थे, उन्हीं विकीर्ण तत्वों को वादरायण व्यास ने वेदान्त सूत्रों में एकत्र कर दिया है। वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म के अंश को छोड़कर समस्त संसार मिथ्या है। इसके अतिरिक्त जीव तथा ब्रह्म दोनों की एक ही सत्ता है।[1]

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' के अखण्ड सिद्धान्त का प्रतिपादन ही हम वेदान्त दर्शन में प्राप्त होता है। तत् का अर्थ है ब्रह्म, त्वम् का अर्थ है जीव। ये दोनों ही एक हैं किन्तु माया से आवृत बुद्धि द्वारा ये दो पृथक सत्तायें समझी जाती हैं। वदान्त को 'विवर्तवाद' भी कहते हैं।

---

**१—"ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः"**

जीव तथा ब्रह्म में परस्पर भेद अज्ञान के कारण ही प्रतीत होता है। जिस प्रकार मार्ग में पड़ी हुई रज्जु को हम सर्प समझ लेते हैं उसी प्रकार ब्रह्म में जगत का भ्रम होने लगता है। इस भ्रम का कारण अविद्या, मिथ्या ज्ञान तथा माया है। इस माया का आवरण हट जाने पर जीव और ब्रह्म दोनों एक हो जाते हैं और मनुष्य आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव द्वारा ब्रह्म की अनुभूति को ही मोक्ष कहते हैं।

वादरायण व्यास के वेदान्त सूत्रों पर अनेक भाष्य लिखे गये जिनमें से शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य तथा बल्लभाचार्य के भाष्य प्रसिद्ध हैं। इन आचार्यों ने वेदान्त के सिद्धान्तों को विभिन्न रूपों में प्रतिपादित किया।

# जैन तथा बौद्ध धर्म

वैदिक काल के प्रारम्भ से ही हमारे धार्मिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन होते आए हैं। पहले यज्ञादि अनुष्ठान प्रचलित थे और समाज पूर्णतया वर्ण-व्यवस्था पर ही आधारित था। उस युग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को वेदाध्ययन और यज्ञादि कर्मों का अधिकार था किन्तु जैसे जैसे परिस्थितियों के अनुसार आवश्यकताओं की वृद्धि होती गई वैसे ही वैसे समाज जटिल रूप धारण करता गया और आगे चलकर वर्ण-व्यवस्था ने अपना अत्यधिक उग्र रूप धारण कर लिया। ब्राह्मणों का सम्मान समाज में उत्तरोत्तर बढ़ता गया। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अन्य जातियों से घृणा करने लगे, यहाँ तक कि वे उनसे मिलना जुलना भी पसन्द न करते थे। अतः रक्त की शुद्धि के हेतु आर्यों द्वारा बनाई गई वर्णव्यवस्था जो उस समय साधक के रूप में थी अब समाज के लिये बाधक सिद्ध होने लगी। समाज में अशांति छा गई। आत्मशान्ति की अपेक्षा वाह्याडम्बर को अधिक ऊँचा स्थान दिया जाने लगा। इस समाज की अवस्था का चित्रण रामायण तथा महाभारत में किया गया है। इसके अतिरिक्त आर्य ब्राह्मण यज्ञ के वास्तविक उद्देश्य को भूलने लगे और उसी के द्वारा मोक्ष प्राप्ति की चेष्टा करने लगे। इसी के फलस्वरूप पशुहिंसा द्वारा वे अपने अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं को प्रसन्न करने लगे। अतः यज्ञ के अन्तर्गत पशुहिंसा अधिक मात्रा में होने लगी जो उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई।

इसी पशु हिंसा के कारण कुछ व्यक्तियों की यज्ञादि कर्मों पर से आस्था हटने लगी। इन व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जिनका वेद तथा उपनिषदों पर भी कोई विश्वास न था और न उनका मन उपनिषदों तथा पुराणों द्वारा कथित सिद्धांतों में ही लगता था। वे किसी नवीन तथ्य द्वारा जीवन के गूढ़ रहस्यों तथा शंकाओं का समाधान करना चाहते थे। अतः इस प्रकार वैदिक धर्म पर विश्वास न करने वाले व्यक्तियों को दो भागों में विभाजित किया गया।

सर्वप्रथम वे जो वेदों का कोई अस्तित्व न मानते थे। वे आत्मा का भी खण्डन करते थे। उनका कथन था कि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु इन चार तत्वों से निर्मित शरीर मृत्यु के पश्चात समाप्त हो जाता है।[1] इनका पुनर्जन्म में भी विश्वास न था। ये पाप, पुण्य को व्यर्थ का आडम्बर समझते थे। इनके जीवन का मुख्य ध्येय था आनन्द प्राप्ति अथवा 'जब तक जियो आनन्द पूर्वक जीवन बिताओ'। यही सिद्धान्त इनके धर्म की आधार शिला थी। इनकी दृष्टि में स्वर्ग, नरक ऐसी कोई वस्तु नहीं। इस श्रेणी के व्यक्ति चार्वाक कहलाये। इनका मत पाश्चात्य देशों के भौतिकवाद से मिलता है। यद्यपि इन लोगों ने अपने मत का प्रचार करने के लिये अत्यधिक परिश्रम किया किन्तु अखण्ड तथा अविचलित भारतीय संस्कृति की आचार-शुद्धि के समक्ष उन्हें नतमस्तक होना पड़ा और शीघ्र ही वर्षाकालीन मेढकों की भाँति इन्होंने अपने अस्तित्व को खो दिया।

दूसरी श्रेणी के व्यक्ति भी वेदों को सम्मान न देते थे किन्तु इन्होंने यम, नियम, व्यक्तिगत आचार-शुद्धि एवं संयम पर विशेष रूप से बल दिया। इसी के फलस्वरूप ईसा से पूर्व छठी एवं सातवीं शताब्दी में जैन तथा बौद्ध धर्म का सूत्रपात हुआ। इन दोनों ही धर्मों का याज्ञिक अनुष्ठानों में बिल्कुल विश्वास न था। इन्होंने वेदों तथा ब्राह्मणों की प्रभुता का पूर्णरूप से खण्डन किया तथा नैतिकता और तपस्या को सर्वोच्च स्थान दिया। इसी की पूर्ति के लिये इन्होंने अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की खोज की। इस समय बहुत से लोगों का मन यज्ञादि कर्मकाण्ड में न लगता था तथा उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म को प्राप्त करना उनके लिये कठिन था। अतः इस प्रकार के व्यक्ति शीघ्र ही इन धर्मों से प्रभावित हो गये किंतु पूर्णरूप से ब्राह्मण धर्म के विरोधी होने पर भी ये धर्म उसे समाप्त न कर सके और देश में पौराणिक धर्म भी प्रचलित रहा। देश में भागवत धर्म को मानने वाले लोगों की भी कमी न थी।

इन दोनों ही जैन तथा बौद्ध धर्मों का भारत में अत्यधिक प्रचार हुआ। बौद्ध धर्म तो आगे चलकर इतना व्यापक हो गया कि इसकी पहुँच

---

१— चार्वाक दर्शन आकाश तत्व को नहीं मानता। इस दर्शन का कथन है कि जिस प्रकार गन्धादि पदार्थों के सम्मेलन से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि के सम्मेलन से चेतना उत्पन्न होती है।

विदेशों में भी होने लगी। यद्यपि ये धर्म भारत में चिरस्थाई न रह सके फिर भी यह कहना सर्वथा साधु तथा संगत होगा कि इन दोनों ही धर्मों ने भारतीय धर्म, साहित्य एवं दर्शन को अत्यन्त प्रभावित किया।

**जैन धर्म—**

जैन धर्म बौद्ध धर्म से प्राचीन है क्योंकि दीघनिकाय में जैन धर्म के तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर के नाम का उल्लेख है। इस सुप्रसिद्ध धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर ही थे। इन्होंने समस्त रागद्वेषों पर विजय प्राप्त कर 'जिन' की पदवी प्राप्त की और यह धर्म इन्हीं द्वारा प्रचलित हुआ, इसी कारण इस धर्म का नाम जैन धर्म पड़ा। वैशाली के ज्ञातृक नामक क्षत्रिय वंश में इनका जन्म हुआ। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ एवं माता का नाम त्रिशला था। संसार की ओर से उदासीन होने के कारण इन्होंने पिता की मृत्यु के पश्चात यति दीक्षा ले ली तथा तेरह वर्ष तक कठिन तप करके मुक्ति प्राप्त की।

महावीर के मत कुछ कुछ पार्श्वनाथ के मत से मिलते थे। पार्श्वनाथ चार महाव्रतों के प्रतिपादक थे—(१) सत्य (२) अहिंसा (३) अस्तेय (४) अपरिग्रह। इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथ श्वेत वस्त्र को धारण करना अनिवार्य बतलाते थे। महावीर ने भी पार्श्वनाथ के इन चारों ही व्रतों का अनुमोदन किया, किन्तु इन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत पर विशेष रूप से बल दिया। इस प्रकार इनके विचार में जैनियों के लिए पाँच महाव्रत आवश्यक थे।

इसके अतिरिक्त महावीर अपरिग्रह की प्राप्ति में वस्त्रों को बाधक मानते थे। इसी कारण इन्होंने दिगम्बरता को भी स्वीकार किया, जिसके फलस्वरूप जैन धर्मावलम्बी दो शाखाओं में विभक्त हो गये—श्वेताम्बर तथा दिगम्बर। इन दोनों में कुछ अन्तर तो अवश्य था, किन्तु कोई सैद्धान्तिक भेद न था। श्वेताम्बर ग्यारह अंगों को मुख्य मानते थे तथा उनके समस्त ग्रंथ प्राकृत भाषा में लिखे गए। इनमें तीर्थङ्करों के पुनीत चरित्रों का वर्णन है तथा ये 'चौबीस पुराण' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह लोग मूर्तियों को कच्छ अथवा लँगोटी पहनाते थे। किंतु इसके विपरीत दिगम्बर उन्हें बिल्कुल नग्न रखते थे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्तर्गत नियमों में शिथिलता आ गई है किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय के अन्दर धार्मिक नियमों में उग्रता है। दिगम्बरों

के मतानुसार स्त्रियों को मोक्ष नहीं प्राप्त होती, उन्हें मोक्ष केवल तभी प्राप्त हो सकती है जब वे पुरुष जन्म धारण करें।

जैन धर्म के अन्तर्गत धर्म के प्रचारक सिद्ध, तीर्थङ्कर के नाम से प्रसिद्ध थे जिसका अर्थ है मार्गदृष्टा। इन तीर्थङ्करों में चौबीस तीर्थङ्करों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जैन धर्म के सर्वप्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर थे।

जैन धर्म के ग्रन्थों के विषय में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के विभिन्न मत हैं। इस धर्म के ग्रन्थ आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्वेताम्बर लोगों का कहना है कि वर्तमान काल में उपलब्ध जैन आगम महावीर के ही उपदेशों का संग्रह हैं किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय वाले इन आगमों को मूल आगम नहीं मानते, न वे इनमें विश्वास ही करते हैं। महावीर ने अर्धमागधी भाषा में अपने उपदेश जनता को दिये थे। इसके बाद गौतम इन्द्रभूति नामक उनके शिष्य ने उनके समस्त मूल उपदेशों की रचना १२, अंगो एवं १४ पूर्वों में कर डाली। जो व्यक्ति इन समस्त अंगों एवं पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेता था उसका नाम ''श्रुतकेवली' पड़ जाता था, जिसका स्थान परोक्ष ज्ञानियों के मध्य में अत्यन्त महत्व का था। महाबीर के निर्वाण तक के समय के बीच में तीन 'केवल ज्ञानी' तथा पाँच 'श्रुतकेवली' हुए, जिनमें से अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये चंद्रगुप्त मौर्य के राज्य में थे, किन्तु बाद में उनके दक्षिण चले जाने पर स्थूलभद्र ने जैन आगम की रक्षा हेतु पाटलिपुत्र में यतियों की एक सभा की। इस सभा में ११ अंगों का संकलन हुआ तथा १४ 'पूर्वों'' के बचे हुए अंश को इसी में बारहवें अंग के रूप में जोड़ दिया गया जिसका नाम है दिट्ठिवाय ( दृष्टिवाद )। समय के परिवर्तन के साथ ही साथ शनैः शनैः ये भी अव्यवस्थित रूप धारण करते गए। अतः आर्यस्कन्दिल ने पुनः मथुरा में एक सभा का आयोजन कर इसे फिर से परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। यह सभा 'माथुरी वाचना' के नाम से प्रसिद्ध है।

**जैन आगम**—जैन धर्म के आगम छः भागों में विभाजित किए गए—(१) अंग (२) उपांग (३) प्रकीर्णक (४) छेदसूत्र (५) सूत्र (६) मूलसूत्र। अंगों की संख्या ११ है जिनके अन्तर्गत सूत्रकृतांग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती सूत्र तथा ज्ञाताधर्मकथा आदि हैं।

उपांगों में औपपातिक, राजप्रश्न, जीवाधिगम, प्रज्ञापना, कल्पावतंस, पुष्पिक आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये संख्या में १२ हैं।

चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा आदि १० प्रकीर्णक हैं। छेदसूत्रों की संख्या ६ हैं जिनमें निशीथ, व्यवहार, आहार आदि मुख्य हैं। नन्दीसूत्र तथा अनुयोगद्वारसूत्र ये दो प्रकार के सूत्र हैं तथा उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति ये मूलसूत्र हैं। इन समस्त आगमों में जैन धर्म के ही उपदेशों का उल्लेख है।

जैन धर्म का यह विश्वास है कि संसार में रहने से प्राणी की आत्मा सांसारिक प्रपंचों एवं दुष्कर्मों के सम्मेलन से दोषपूर्ण हो जाती है, अतः मनुष्य को चाहिए कि वह इस प्रकार के कार्य करे, जिससे बुरे कर्म न होने पायँ। दुष्कर्मों से मुक्ति मानव को तभी मिल सकती है जब वह संसार का और कर्मों का परित्याग कर दे। किंतु यह सबके लिये सरल बात नहीं। अतः धर्म की दो प्रकार की व्यवस्था हुई—पहली गृहस्थों अथवा श्रावकों के लिये, दूसरी सन्यासियों के लिये। गृहस्थों का यह कर्तव्य था कि वे अपने जीवन पथ पर इस प्रकार चलें कि निर्वाण प्राप्त कर सकें, जिसके लिए अहिंसा, सत्यादि का पालन उनके लिये आवश्यक था। जो व्यक्ति विरक्त बनना चाहते थे उनके लिए इन अणुव्रतों के अतिरिक्त तीन और गुणव्रतों का तथा चार नियमों का पालन करना आवश्यक था—(१) दिग्व्रत (२) अनर्थ-दंड व्रत (३) भोगोपभोग व्रत ये तीन गुणव्रत थे। इसके अतिरिक्त चार नियम—देशावकाशिक, सामयिक, पोषधोपवास तथा वैयावृत्य थे।

अपने चलने का मार्ग निर्धारित करना दिग्व्रत, व्यर्थ के कर्मों का परित्याग अनर्थ-दण्ड-व्रत, भोग्य वस्तुओं के परिमाण को निश्चित करना भोगोपभोग व्रत का काम था। निर्धारित हुई सीमा पर चलना देशावकाशिक, समस्त पापों का परित्याग कर देवों का एकाग्र मन से चिन्तन सामयिक, उपवासादि का पालन करना पोषधोपवास तथा कपट त्याग कर श्रद्धा पूर्वक अतिथियों की सेवा वैयावृत्य नियम कहलाता था। इन समस्त गुणव्रतों एवं नियमों को करना आवश्यक था।

जैन धर्म के मूल सिद्धान्त अहिंसा तथा दया हैं। इस धर्म में तीन प्रकार की अहिंसा का वर्णन है--शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक। मानसिक हिंसा का पालन करना गृहस्थों के लिये अत्यन्त कठिन था, अतः उसे चार भागों में विभक्त किया गया—आनुषंगिक, व्यावसायिक, आत्मरक्षा

सम्बन्धी तथा इच्छापूर्वक। गृहस्थ केवल चौथी का प्रयोग नहीं कर सकता था, और सन्यासियों के लिए चारों ही हिंसायें वर्जित थीं। वह उनका पालन नहीं कर सकता था।

जैन दर्शन—

जैन दर्शन के अनुसार जगत में दो तत्व हैं—(१) चित् (२) अचित्। इन्हीं का उचित रूप से विवेचन ज्ञान कहलाता है। चेतन का लक्षण है अन्य वस्तुओं को अपने उपयोग में लाना तथा अचेतन तत्व जड़ है। संसार में जीव दो कोटि के हैं—मुक्त और संसारी। संसारी जीवों में कुछ मन-रहित प्राणी तथा कुछ मनधारी प्राणी हैं।

विश्व में पाँच अस्तिकाय अथवा सत्ताधारी तत्व हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल। आकाश अवकाश प्रदान करने वाला तत्व है तथा धर्म तत्व मुक्ति का मूल साधन है और मुक्ति की प्राप्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। जैनियों का विश्वास है कि प्रत्येक जीव की स्ततन्त्र सत्ता है। जीव मृत्यु के पश्चात् चौंसठ सहस्र योजन शिला पर स्थित होकर अपने ज्ञान द्वारा अनेक लोकों का दर्शन करता हुआ सुखपूर्वक निवास करता है। प्रलय के समय वैताढ्य पर्वत पर समस्त जीव युग्म रह जाते हैं जिनसे पुनः सृष्टि होती है।

स्पर्श, रस एवं वर्ण वाले तत्व को पुद्गल कहा जाता है। अणु तथा स्कन्ध भेद से यह दो प्रकार का है। इसका अणु रूप भोग से बहुत दूर है। इसके अतिरिक्त स्कन्ध भेद में पृथ्वी, जल, वायु, तेज यह चार पुद्गल हैं।

अन्य जैन मतावलम्बी सात तत्व मानते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर तथा मोक्ष। शरीर, वाणी तथा मन में आस्रव स्फुटित होता है। मिथ्या दर्शन, प्रमाद, अविरति के कारण जीव म आस्रव तत्व द्वारा पुद्गल का योग होता है। इसी सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं और आस्रव इसी बन्ध का हेतु है। यह आस्रवपूर्ण जगत संवर तत्व द्वारा आच्छादित रहता है, और इसी संवर तत्व द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस संवर तत्व के तीन स्वरूप हैं—(१) गुप्ति—जिसमें मानव अपने शरीर, मन एवं वाणी को दुष्कर्म करने से रोकता है, (२) समिति (अहिंसा), (३) निर्जरण—इस अवस्था में मनुष्य के तप से संचित कर्मों का नाश

हो जाता है। अतः जैन दर्शन के अन्तर्गत सम्यक् दर्शन, सम्यक चरित्र और सम्यक् ज्ञान, ये ही तीन मोक्ष के साधन बतलाये गये हैं।

## बौद्ध धर्म—

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध थे। बुद्ध भगवान न जिस अनुपम धर्म का प्रवर्तन किया वास्तव में उसी प्रकार के धर्म की उस समय जनता को आवश्यकता थी। अतः यह बौद्ध धर्म अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ। आगे चलकर इसका स्वरूप इतना व्यापक, सजीव एवं व्यावहारिक हो गया कि इसका प्रचार न केवल उसी समय खूब हुआ अपितु आज भी इसका प्रभाव हम मानव समाज में देखते हैं।

भगवान बुद्ध ने दुःसाध्य एवं असाधारण तप करके परमोच्च ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् चार उत्तम आर्य सत्यों की खोज की जिनमें सर्वप्रथम सत्य है दुःख। बुद्ध के अनुसार यह जगत दुःखपूर्ण है, किन्तु इन्होंने दुःख के समुदय ( कारण ) एवं दुःख निरोध ( निर्वाण ) के तत्वों का विवेचन कर निर्वाण प्राप्ति का साधन बताया। अन्य धर्मों की भाँति इस धर्म का भी एक मात्र लक्ष्य था मुक्ति प्राप्ति। भारत का तत्वज्ञान आशावादी होने के कारण इस मिथ्या जगत में भी आशा का संचार करता है, दुःख को सुख में परिणत कर देता है, किन्तु बौद्ध धर्म के मार्ग में सुख का कोई स्थान नहीं है। इसका कारण यही ह कि इसके प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ने समस्त ऐश्वर्यों तथा वैभवों से पूर्ण अपने पिता शुद्धोदन के राजप्रासाद म भी दुःख का अनुभव किया, तभी वे वहाँ से चुप-चाप निकल पड़े। कुछ विद्वान इस धर्म को निराशावादी बताते हैं किन्तु यह निर्मूल तथा बिल्कुल असत्य है।

## सिद्धान्त—

बौद्ध धर्म के अन्तर्गत तीन दृढ़ एवं प्रमुख सिद्धान्त हैं—

१—सर्वमनित्यम्—संसार अनित्य है, उसकी कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। जगत परिवर्तनशील है और यही परिवर्तन एवं परिणाम सत्य है। इस 'परिणाम' का ग्रीक दार्शनिक हिरेक्लिटस ने भी प्रतिपादन किया है। अतः जगत सत्तारहित है।

२—सर्वमनात्मम्—विश्व की समस्त वस्तुयें आत्मा रहित हैं। उनका

कोई स्वरूप नहीं है। आत्मा को भगवान बुद्ध मानसिक प्रवृत्तियों का नाशक बतलाते हैं। इसका हीनयान तथा महायान में विशद् वर्णन है।

३ निर्वाणं शान्तम्—निर्वाण शांत है। इसकी प्राप्ति के लिये तीन साधन हैं—शील, समाधि तथा प्रज्ञा। प्रज्ञा के उदय होने पर ही मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। अतः प्रज्ञा का उदय ही निर्वाण का साधन है।

सम्पूर्ण बौद्ध धर्म के मूल में तीन बातें मुख्य हैं—(१) बुद्ध (२) धर्म (३) संघ, जिनका बौद्ध लोग अब भी उच्चारण करते हैं—

**बुद्धं शरणं गच्छामि**
**धर्मं शरणं गच्छामि**
**संघं शरणं गच्छामि**

इसी आधार पर निर्मित बौद्ध साहित्य की हम तीन शाखायें पाते हैं—(१) हीनयान (२) महायान (३) वज्रयान। हीनयान शाखा वाले बुद्ध को युग पुरुष मानते हैं तथा उनके उपदेशों पर चलते हैं। ये लोग भक्ति का खण्डन करते हैं। अतः यह एक निवृत्ति मार्ग है, अर्हंत इसका आदर्श है। महायानवाले बुद्ध को देव मानते हैं और उनके प्रति भक्ति करते हैं। यह एक प्रवृत्ति का मार्ग है। इसका आदर्श बोधिसत्व है। वज्रयान के प्रवर्तकों को सिद्ध नाम से विभूषित किया जाता है जिनमें ८४ सिद्ध प्रसिद्ध है। इन्होंने तान्त्रिक साधन को विशेष महत्व दिया।

इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के अन्तर्गत कुछ विशेष तथा महत्वपूर्ण प्रतिज्ञाओं का उल्लेख है जो प्रत्येक व्यक्ति को ग्रहण करनी पड़ती हैं जब वह बौद्ध धर्म का ग्रहण करता है। इन प्रतिज्ञाओं में निम्नलिखित मुख्य हैं—

अहिंसा, चोरी न करना, मिथ्या भाषण का त्याग, मादक वस्तुओं का प्रयोग न करना, पवित्रता से जीवन व्यतीत करना, समदृष्टि रखना तथा मानव के प्रति सरल व्यवहार करना आदि।

बौद्ध धर्म में नृत्य, संगीत आदि को स्थान नहीं है। अतः भिक्षुओं को उन्हें पूर्णतया त्याग देना पड़ता था। बौद्ध भिक्षुओं की ५ प्रतिज्ञायें थीं—(१) नृत्य तथा संगीत का त्याग (२) शय्या-त्याग (३) नियमित समय पर भोजन करना (४) आभूषण त्याग (५) धन-संचय न करना।

बौद्ध धर्म ने वर्ण-व्यवस्था की जटिल शृंखलाओं को शिथिल कर दिया। इस धर्म के अन्तर्गत धनी-निर्धन, राजा-रंक, ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र आदि सब समान थे। बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लेने पर वे एक ही जाति के समझे जाते थे और केवल बौद्ध भिक्षु नाम से पुकारे जाते थे।

बौद्ध धर्म ने यज्ञादि अनुष्ठानों को सम्मान न देकर मानसिक तथा आन्तरिक यज्ञ का प्रतिपादन किया, जिसके फलस्वरूप यज्ञादि में बलि दिये जानेवाले अगणित जीवों के प्राणों की रक्षा हुई। महात्मा बुद्ध ने कर्मकाण्ड का आलम्बन करनेवाले ब्राह्मणों को इस प्रकार का उपदेश दिया कि यज्ञ में आहुति डालने से पवित्रता नहीं होती वरन् आन्तरिक यज्ञ द्वारा मन शुद्ध करने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकती है। इस आन्तरिक यज्ञ में वाणी स्रुवा तथा हृदय यज्ञ वेदी का कार्य करता है। अतः यज्ञादि में आहुति देना मिथ्याडम्बर है। इसी प्रकार की भावनाओं का बुद्ध ने जनता में प्रचार किया।

भगवान बुद्ध ने अपने इन समस्त नैतिक सिद्धान्तों का जन साधारण की भाषा में उपदेश दिया। बुद्ध के जीवन-काल में तो उनके उपदेशों का संग्रह हुआ नहीं किन्तु उनकी मृत्यु के बाद आनन्द तथा उपालि आदि शिष्यों ने उनके उपदेशों का संग्रह किया। आनन्द ने सम्पूर्ण उपदेशों (सुत्तों) की रचना कर डाली क्योंकि इन्हें बुद्ध के दार्शनिक उपदेशों का पूर्ण ज्ञान था। उपालि ने समस्त विनय (आचार-शास्त्र) को लिपिबद्ध कर डाला। ये समस्त उपदेश तीन मुख्य पिटकों में विभक्त किए गए हैं जो त्रिपिटक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके अन्तर्गत (१) विनयपिटक (२) सुत्तपिटक (३) अभिधम्मपिटक हैं। अभिधम्मपिटक की रचना बुद्ध के बहुत बाद में हुई।

विनयपिटक में भिक्षु तथा भिक्षुणियों के आचार विचार एवं व्यवहार का वर्णन है क्योंकि विनय शब्द का अर्थ 'नियम' है। इस विनय के दो मूल भाग हैं—(१) 'विभंग' (२) 'खन्धक'। खन्धक के दो भाग हैं—महावग्ग और चुल्लवग्ग। विनयपिटक का महान लक्ष्य संघ शासन है।

सुत्तपिटक में धर्म का प्रतिपादन है और यह धर्म सम्बंधी उपदेशों का संकलन है। इसके अन्तर्गत पन्द्रह ग्रन्थों का समावेश है।[1] अभिधम्म

---

**१—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, खुद्दकनिकाय, विमान वत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटि संभिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंश और चरियापिटक। ये पन्द्रह ग्रंथ हैं।**

पिटक में सूत्रपिटक द्वारा प्रतिपादित स्थूल सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन है। इसके सात विभाग हैं—( १ ) धम्मसंगणि ( २ ) विभंग ( ३ ) धातुकथा ( ४ ) पुग्गलपञ्ञति ( ५ ) कथावत्थु ( ६ ) यमक ( ७ ) पट्ठान।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म का साहित्य अत्यन्त विशाल है। इसमें बौद्ध धर्म विषयक और भी अनेक ग्रन्थों की रचना हुई।

**बौद्ध दर्शन—**

बौद्ध दर्शन के चार प्रधान विभाग हैं—मध्यम दर्शन, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक।

**मध्यम दर्शन**—इस संसार की समस्त वस्तुयें परिमाणुओं द्वारा निर्मित होती हैं किंतु परिमाणु भी नश्वर हैं, अतः विश्व की प्रत्येक वस्तु नश्वर है। नश्वरता के ही कारण जगत दुःखमय है और यही दुःख सत्य है। समस्त संसार शून्य है। अतः बुद्ध ने शून्यता, क्षणिकता आदि भावनाओं का अनुभव कर शून्य में विलीन हो जाने को ही निर्वाण कहा। गुरु का उपदेश स्वीकार करना आचार है। इन्हीं सब विषयों का इस दर्शन में वर्णन है।

**योगाचार—**

इसके अन्तर्गत योग की साधनाओं का वर्णन है। इस दर्शन का मत है कि कोई पदार्थ बुद्धि का ग्राह्य नहीं। बुद्धि को इसमें ज्ञान का रूप बतलाया गया है। अतः संसार के वाह्याडम्बरों से छटकर ज्ञान ही ज्ञान है। इस भावना को आतमसात कर लेना ही मुक्ति है। यह मत ज्ञान की सत्ता मानता है। इसी कारण इसे 'विज्ञानवाद' कहा गया।

**सौत्रान्तिक—**

इसके मानने वाले भुक्ति तथा मुक्ति दोनों में विश्वास करते हैं। इस मत के अनुयायी वज्रयान शाखा के तान्त्रिक मार्ग को मानते हैं। इस दर्शन के अनुसार संसार के पदार्थों का बुद्धि स्थित रूप एवं वाह्य रूप दोनों की ही सत्ता सत्य एवं दृढ़ है। सौत्रान्तिकों का वज्रयान आगे चलकर अनाचारपूर्ण बन गया।

**वैभाषिक—**

इस दर्शन में जड़वाद का प्रतिपादन है। इसके अनुसार जगत के दो रूप हैं—मूर्त्त (वाह्य) तथा चित्त (आन्तर), और यह वाह्य एवं आन्तर दोनों ही पदार्थों की सत्ता स्वीकार करता है। इसी कारण इसे 'सर्वास्तिवाद' भी कहा गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन तथा बौद्ध दोनों ही धर्म आचार तथा व्यवहार की सरलता प्रतिपादित करने के कारण जनता में अधिक व्याप्त हो गये। इसके अतिरिक्त भगवान बुद्ध तथा तीर्थङ्करों की स्मृति में बनवाये गयें स्तूप, प्रस्तर वेदिकाओं आदि द्वारा भारतीय कला का भी विकास हुआ। अतः जैन तथा बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति के उज्वल यश के प्रतीक हैं।

---

# भक्ति सम्प्रदाय

भारतीय उपासना का मुख्य उद्देश्य परमानंद की प्राप्ति है और इसी के फलस्वरूप सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत ब्रह्म की प्राप्ति के विभिन्न साधनों एवं ब्रह्म तथा मानव के मध्य स्थित सम्बन्ध का विवेचन है। इन सम्बन्धों में उपास्य तथा उपासक का सम्बन्ध बड़े महत्व का है। भक्ति का सूत्रपात वेदकाल के आरम्भ में ही किसी न किसी रूप में हो चुका था, यद्यपि उसका वाह्य स्वरूप परिस्थितियों तथा समाज के अनुकूल परिवर्तित होता गया। किंतु इन समस्त रूपों के मूल में जो अमरत्व छिपा है वह है अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार और यह साक्षात्कार ब्रह्म में आत्मसमर्पण करके ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः अपनी चित्तवृत्ति को निरन्तर अविच्छिन्न रूप से अपने उपास्य देव में स्थापित कर देने तथा उसमें अटल विश्वास करने एवं अनन्य निष्काम प्रेम द्वारा उसी में चित्तवृत्ति को लय कर देने का ही नाम भक्ति है।

**स्वरूप—**

भारत में आदिकाल से लेकर आज तक भक्ति के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। इसी के फलस्वरूप भक्ति के अनेक साधन, अनेक स्तर तथा विभाग उपस्थित हो गए जिनका पूर्ण रूप से वर्णन प्राचीन महर्षियों ने तथा उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण और तंत्रशास्त्र आदि ने विभिन्न रूपों एवं विभिन्न मार्गों द्वारा किया है।

सम्पूर्ण उपासना-क्षेत्र के अन्तर्गत हम दो प्रकार की भक्ति प्राप्त करते हैं—निर्गुण तथा सगुण भक्ति। इन्हीं दो स्तम्भों पर भारतीय उपासना आधारित है। भारत में भक्ति-भावना इन्हीं दोनों मूल स्रोतों से निकलकर असंख्य शाखाओं में विभक्त होती गई। किन्तु इन दोनों का ही मुख्य उद्देश्य मानव को ब्रह्म की ओर अग्रसर करना है।

वैदिककाल में आर्य लोग प्रकृति की विचित्रता को देखकर उसकी अद्भुत शक्तियों से प्रभावित हुए। इसी से वे इन्द्र, वरुण, अग्नि देवता तथा उषा देवी आदि की उपासना करने लगे। इनकी उपासना के मूल में ईश्वर के एकेश्वरवाद का मूल सिद्धान्त विद्यमान था। उस समय याज्ञीय कर्मकाण्ड भी प्रचलित थे। यज्ञों को विशेष स्थान प्राप्त था। उनके सम्पादनार्थ अनेक उपचारों की आवश्यकता होती थी जिनके अन्तर्गत उन समस्त नियमों एवं वस्तुओं का वर्णन आ जाता है जो देवी, देवता आदि की उपासना के लिए आवश्यक है जैसे अर्घ्यम्, 'आसनम्, कांचीदामकटिसूत्रम्, शोभाख्याभरणम्, स्वागत, पाद्य, आचमनी, यज्ञोपवीत, माल्य, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि।

तत्पश्चात् उपनिषदों में वर्णित निराकार ब्रह्म की उपासना होने लगी। इसके भी मूल में एकेश्वरवाद की ही भावना स्थित थी। इस उपासना के अन्तर्गत केवल इन्द्रियदमन तथा मन की एकाग्रता द्वारा ही मनुष्य शुद्ध ज्ञान को प्राप्त कर सकता था। इसी के अन्तर्गत शुद्धज्ञान के द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति बताई गई। अतः यह मार्ग ज्ञान मार्ग कहलाया और इस प्रकार की उपासना निर्गुण ब्रह्म की उपासना कहलाई। आगे चलकर शंकराचार्य ने इसी के आधार पर अद्वैतवाद को जन्म दिया।

उक्त समय के बाद थोड़े समय तक तो यह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई किन्तु आगे चलकर जैसे जैसे आवश्यकताओं की वृद्धि होती गई वैसे ही वैसे समाज की परिस्थितियाँ भी ऐसी हो गईं जिससे यह निराकार ब्रह्म की उपासना लोगों को दुःसाध्य प्रतीत होने लगी। अतः सगुण भक्ति की धारा देश में प्रस्फुटित हो गई। इसमें भगवान की प्रतिमा स्थापित कर भक्त उनके प्रति भक्ति करता था।

**उपाधियाँ—**

भक्ति की साधना के हेतु उपासना क्षेत्र में भक्ति की अनेक उपाधियों का वर्णन मिलता है। भक्ति की विशेष रूप से दो प्रसिद्ध उपाधियाँ हैं— (१) अन्याभिलाषा (२) कर्मज्ञानयोगादिमिश्रण। अन्याभिलाषा उपाधि पूर्ण रूप से निर्गुण शाखा एवं ज्ञान मार्ग से सम्बन्धित है। ज्ञान, भक्ति तथा योग के भेद से यह तीन प्रकार की होती है। ज्ञान के अन्दर अहं ब्रह्मास्मि की भावना, कर्म में भक्तिरहित कर्मकाण्ड का वर्णन तथा योग के अन्तर्गत हठयोगादि आ जाते हैं।

दूसरी शाखा ब्रह्म के सगुण रूप से सम्बन्धित है। भक्त को ज्ञान द्वारा भगवान के रहस्यों का उद्घाटन होता है, योगाभ्यास द्वारा भक्त अपनी चित्तवृत्ति को ईश्वर में पूर्णरूप से स्थापित कर देने में समर्थ होता है तथा कर्म द्वारा वह अपने उपास्य देव की सेवा का आनन्द उठाता है। अतः इसके भी ज्ञान, योग तथा कर्म तीन अंग हैं। इस उपाधि के अन्तर्गत सकाम भक्ति तथा उपमा भक्ति आ जाती है।

सकाम भक्ति भोग कामना से सम्बन्धित है। यह सात्विकी, राजसी तथा तामसी तीन प्रकार की होती है। उपमा भक्ति चित्स्वरूपा है। इसमें अविद्या, वासना, मोक्ष आदि के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। अतः यह निर्गुण ब्रह्म से सम्बन्धित है। इसके तीन मुख्य अंग हैं—साधन, भाव तथा प्रेम। साधन भक्ति द्वारा भाव तथा प्रेम साध्य हैं। इसके अन्तर्गत रागानुगा तथा वैधी दो प्रकार की भक्तियाँ आ जाती हैं। भावभक्ति हृदय से सम्बन्धित है। इसके द्वारा भक्त ईश्वर में विश्वास तथा श्रद्धा स्थापित करता है। इसके ९ लक्षण हैं।[1] प्रेम भक्ति द्वारा भक्त में ईश्वर के प्रति अलौकिक प्रेम उत्पन्न हो जाता है और वह अपने उपास्यदेव में आत्मसमर्पण कर उसका साक्षात्कार करता है।

### लक्षण तथा महत्व—

साधना के पवित्र मार्ग में भक्ति का सर्वोच्च स्थान है। भक्ति के बिना कोई भी व्यक्ति ब्रह्मविद्या के उच्चतम आसन को नहीं ग्रहण कर सकता और न वह परमात्मा के दिव्य ज्ञान का ही अनुभव कर सकता है। जिसकी परमात्मा में उत्तम भक्ति है और परमात्मा के ही समान गुरू में भक्ति है वही उपर्युक्त ब्रह्मविद्या के आसन को तथा परमात्मा के दिव्य ज्ञान को प्राप्त कर सकता है।[2]

विद्वान लोग तथा धर्मग्रंथ भक्ति के अनेक लक्षण बतलाते हैं। भक्ति-मीमांसा के अनुसार ईश्वर के प्रति परम अनुराग को ही भक्ति कहा गया

---

१ अव्यर्थ, कालत्व विरक्ति, मानशून्यता, आशाबंध, समुत्कण्ठा, नाम गान में रुचि, गुण कथन में आस्था तथा उसके निवासस्थान से प्रेम।

२—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।" (श्वेताश्व—६।२३)

है।[1] देवर्षि नारद हृदय में ईश्वर के प्रति परम प्रेम स्थापित करने को ही भक्ति कहते हैं।[2] अद्वैत-शिरोमणि आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती भक्ति को मन की एक विशेष वृत्ति मानते हैं जिसमें मन रागजन्य आनन्द से द्रवीभूत होकर भगवान में मिल जाता है।[3] वे भगवद्भाव से आकृष्ट हुए चित्त की भगवान के अन्दर धारावाहिक रूप से प्राप्त हुई वृत्ति को भक्ति कहते हैं।[4]

## नवधा भक्ति -

साधन भक्ति के नौ अंग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चना, वन्दना, सेवक-सेव्य भाव, सखा भाव और आत्म समर्पण। ये नवधा भक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसको साहित्य के समस्त भक्त कवियों ने अपनाया। आत्म समर्पण इस भक्ति का अंतिम सोपान है। इसी अवस्था को प्राप्त कर मानव ब्रह्म की प्राप्ति करता है। श्रीमद्भागवत के एक ही श्लोक में नवधा भक्ति का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।[5] इसी नवधा भक्ति का चित्रण गोस्वामीजी ने अपनी रामायण में भी किया है।

## प्रचार—

इस प्रकार से भक्ति का प्रचार होने पर अन्य देवी देवताओं की कल्पना हुई जिनमें त्रिदेव कल्पना अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसके अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु, महेश की कल्पना हुई। ब्रह्मा सृष्टि कर्ता, विष्णु पालन करने वाले तथा शंकर संहार करने वाले हैं। अतः ये ही तीन इष्ट देव माने जाने

---

१—"सा परानुरक्तिरीश्वरे।"—( शाण्डिल्यसूत्र )

२—"सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।"—(ना० सू० २)

३—"द्रवीभावपूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्पकवृत्ति-रूपा भक्तिः"—आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती।

४ द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥"

—आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती—'भक्ति रसायन'

५—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

( श्रीमद्भागवत )

लगे। किन्तु जैसे-जैसे यह क्षेत्र विकसित होता गया अन्य देवताओं की कल्पनायें भी होती गईं। इन सब इष्ट देवों की उपासना के अलग-अलग नियम थे। अतः समाज में भागवत, शैव, शाक्त आदि अनेक सम्प्रदाय चल पड़े। इन सबके आचार भिन्न थे। इस भावात्मक अनुभूति का सूत्रपात महाभारत काल के पहले ही हो चुका था किन्तु पुराणों में इसका विस्तृत वर्णन है। पुराण युग में भी भक्ति मार्ग में अनेक परिवर्तन हुए।

भागवत सम्प्रदाय—

सर्व प्रथम वैदिक काल में याज्ञीय कर्मकाण्डों के अतिरिक्त ज्ञान को अधिक महत्व दिया जाता था। इसमें ब्रह्म को निराकार बतलाया गया, अतः निर्गुण ब्रह्म की उपासना उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। किन्तु कुछ दिनों बाद निराकार ब्रह्म के साक्षात्कार पर से लोगों का विश्वास हटने लगा जिसके फलस्वरूप अनेक देवताओं की कल्पनायें हुई जिनमें कृष्ण को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

जैसे जैसे भक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक होने लगा लोगों ने **कृष्ण को रस रूप में विष्णु से भिन्न कर** दिया। यही रूप परम-भागवत कहलाया। इसी रूप की गुप्त काल में अत्यधिक उन्नति हुई। मध्य-युग में यह वैष्णव धर्म का ही अंग बन गया। वासुदेव इनके इष्ट देव थे। इन्हीं की लीलाओं का वर्णन श्रीमद्भागवत पुराण में है।

आठवीं तथा नवीं शताब्दी में वैष्णव भक्ति के मार्ग में दो जटिल समस्यायें उपस्थित हुई जिनमें प्रथम कुमारिल भट्ट का आन्दोलन था। इन्होंने वैदिक याज्ञीय कर्मकाण्ड को मुक्ति का साधन बता कर पुनः उसे स्थापित करने की चेष्टा की। द्वितीय शंकराचार्य का अद्वैतवाद था। इन दोनों ही मतों ने भक्ति के मूल उद्देश्य को हानि पहुँचाई। भगवद्भक्ति के लिये उपास्य तथा उपासक दोनों ही परमावश्यक अंग हैं। उपास्य के बिना उपासक की उपासना निर्मूल है तथा उपासक के बिना उपास्यदेव की कोई भी सत्ता नहीं; क्योंकि सच्चिदानन्द ब्रह्म के सत्, चित्, आनन्द का यदि कोई अनुभव करने वाला ही न होगा तो उसकी सत्ता ही क्या? किन्तु शंकराचार्य के मिथ्यावाद के अन्तर्गत उपासक का कोई स्थान न था। इस मत से जनता में बड़ा असन्तोष फैला और इस समस्या का हल दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक होता रहा। इसी बीच में रामानुजाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य आदि आचार्यों ने दक्षिणी भारत से आकर उत्तरी भारत में

विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत आदि मतों का प्रचार कर जनता में जीव और जगत की सत्यता स्थापित की।

तत्पश्चात् भारत के वातावरण में पुनः धर्म क्रांति आरम्भ हुई। जब भारत में मुसलमानों ने पदार्पण किया उस समय उन लोगों द्वारा हिंदू धर्म को महान आघात पहुँचा। सम्पूर्ण भारत में फैले हुए मुसलमानों के मन में अपने साम्राज्य को विस्तीर्ण करने की उत्कट अभिलाषा थी। हिन्दुओं पर अपने धर्म की स्थापना कर उन्हें मुसलमान बना लेने की ज्वाला उनके हृदय में धधक रही थी। इसी कारण मुसलमानों ने उन पर अत्याचार करने प्रारम्भ कर दिये और हिंदू मुसलमान बनने लगे। अतः यह स्वाभाविक था कि उस क्रांति के वातावरण में लोगों का मन निराकार ब्रह्म की ओर से हट जाता। इस समय की जनता अपनी परिस्थितियों से इतनी पीड़ित थी कि निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करना उसके लिये दुर्लभ था।

इस समय जनता,को ऐसे ब्रह्म की आवश्यकता थी जो अपनी बाहुशक्ति द्वारा उसकी रक्षा कर, उसको उन्नति का आदर्शपूर्ण मार्ग बताता। इसी के फलस्वरूप भक्ति का दूसरा रूप-सगुण ब्रह्म भक्ति का-उपस्थित हुआ जिसमें ईश्वर की साक्षात प्रतिमा की उपासना का प्रतिपादन हुआ। यह भक्ति सगुण भक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुई। उत्तरी भारत में इस भक्ति की दो शाखायें थीं—पहली रामभक्ति शाखा थी। इसके प्रवर्तक रामानन्द थे। दूसरी कृष्ण भक्ति शाखा थी जिसके प्रवर्तक वल्लभाचार्य थे। आगे चलकर रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत गोस्वामी तुलसीदासजी हुए जिन्होंने भगवान राम के अद्वितीय चरित्र को रामचरितमानस के रूप में जनता के समक्ष रखा जिससे जनता संतुष्ट हुई और राम की भक्ति देश में प्रचलित हो गई। समाज में शांति स्थापित हो जाने पर मनुष्यों का ध्यान पुनः आमोद प्रमोद की ओर आकृष्ट हुआ। इसी समय कृष्णभक्ति शाखा के अग्रगण्य कवि सूरदास ने कृष्णभक्ति में तन्मय होकर अपनी वीणा द्वारा निसृत स्वरों से लीलापुरुषोत्तम भगवान कृष्ण की जिस मंजुल मोहिनी मूर्ति को सामने रखा उसे देखकर जनता शीघ्र ही आनन्द सागर में डूब गई। सूर ने कृष्ण के बाल-जीवन का वात्सल्यपूर्ण वर्णन भी किया, जिसका सबने रसास्वादन किया। इसके अतिरिक्त रसखान आदि कवियों ने भी कृष्ण भक्ति पर ही विशेष प्रकार से बल दिया। अतः इस भागवत सम्प्रदाय के अन्तर्गत वैष्णव धर्म की ही अधिक प्रधानता रही।

## वैष्णव धर्म—

भक्ति की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्यों में श्रीरामानुजाचार्य का नाम सुप्रसिद्ध है। इनका मत पूर्णतया शंकर के अद्वैतवाद के विरुद्ध था। इनके बाद अन्य आचार्यों ने भी उसी सगुण भक्ति की भावना को विस्तृत कर शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन किया जिसके फलस्वरूप अनेक मत उपस्थित हो गये जैसे मध्वाचार्य का द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत, वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद, चैतन्य महाप्रभु का अचिंत्यभेदाभेदवाद। सगुण ब्रह्म के रूप में भगवान विष्णु को पूर्ण रूप से शक्तिशाली माननेवाले वैष्णव कहलाये। इसी से इसका नाम वैष्णव धर्म पड़ा।

मध्वाचार्य का द्वैतवाद अद्वैतवाद से भिन्न था। निम्बार्क के मतानुसार अद्वैत के प्रति भेद अभेद होने के कारण उसका नाम द्वैताद्वैत पड़ा। इनके मत में द्वैत तथा अद्वैत में कुछ साम्य तथा कुछ भेद था। इस मत के अनुसार चित्, अचित्, तथा ईश्वर ये तीन परम तत्व माने गए हैं। चित् जीव का स्वरूप है। अचित् तत्व से चेतनाहीन पदार्थों से अभिप्राय है। ये पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं प्राकृत, अप्राकृत तथा काल। ईश्वर में ब्रह्म के सगुण रूप की कल्पना है। अतः ब्रह्म का सगुण रूप ही ईश्वर है। निम्बार्क ने कृष्ण को उपास्य देव माना।

## मध्वाचार्य—

वेदान्त के आचार्यों में इनका सर्वप्रमुख स्थान है। इनका द्वैत मत अद्वैतवाद की विरोधी भावनाओं से पूर्ण है। मध्वाचार्य ने बहुत से तीर्थों का पर्यटन कर इस मत की स्थापना की थी। इन्होंने सैंतीस ग्रंथ लिखे जिनमें 'ब्रह्मसूत्र भाष्य', 'अनुव्याख्यान', 'दशोपनिषद भाष्य' 'गीता भाष्य' आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनके अनुसार रज्जु तथा सर्प दोनों की प्रथक् सत्ता है। इस प्रकार से अद्वैतवाद का इन्होंने खण्डन किया।

मध्वाचार्य की दृष्टि में संसार में पाँच भेद नित्य हैं—

१—ईश्वर तथा जीव का भेद।

२—ईश्वर तथा जड़ जगत का भेद।

३—जीव और जगत का भेद।

४—जीव और जीव का भेद।

५—जड़ और जड़ का भेद।

इनके द्वैतवाद के यही पाँच मूल सिद्धान्त थे। इसके अतिरिक्त ये चार प्रकार की शक्ति मानते थे—(१) परमात्मा की अचिंत्य शक्ति (२) पदार्थों की शक्ति (३) देव प्रतिमाओं में प्रतिष्ठा द्वारा उत्पन्न आधेय शक्ति (४) पदशक्ति। मध्वाचार्य ने भी सगुण ब्रह्म को स्वीकार किया और निर्गुण ब्रह्म का खण्डन किया। ये सृष्टि को केवल निमित्त मानते थे। इस द्वैतवाद से देश में शान्ति स्थापित हुई और असंख्य लोगों ने इसे माना। इस प्रकार इस मत ने भारत में अत्यधिक उन्नति की।

## शैव सम्प्रदाय—

भारत में भागवत सम्प्रदाय के साथ ही साथ शैव सम्प्रदाय का भी प्रचार हुआ। यह प्राचीनकाल में भारत के पश्चिमी भाग में प्रचलित था। मोहेनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई में अनेक शिवलिंग और मूर्तियाँ प्राप्त हुईं। शाकद्वीप (जिसका उल्लेख महाभारत तथा पुराणों में आया है) में शैव अधिक संख्या में थे। ईसा की दूसरी शताब्दी में कुशानवंशी राजाओं ने कुछ अंश तक शैव मत को स्वीकार किया। छठी शताब्दी में भारत में हूण जाति ने प्रवेश किया। उसने भी शैव मत को स्वीकार किया। इस प्रकार उत्तरोत्तर इसका क्षेत्र विस्तृत ही होता गया। दक्षिण भारत में भी इसका प्रभाव कम न था और वहाँ शैव तथा वैष्णव दोनों ही मत परस्पर साथ ही साथ चल रहे थे।

शैव सम्प्रदाय का रूप अधिक व्यापक हो जाने पर इसके अन्दर चार मत हो गए—शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक। इसके अतिक्ति उत्तर तथा दक्षिण में भी दो शैव सम्प्रदाय थे। उत्तर का सम्प्रदाय काश्मीर-शैव मत तथा दक्षिण का वीर-शैव मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नवीं तथा दसवीं शताब्दी में काश्मीर में इसकी अधिक उन्नति हुई। इन सम्प्रदायों के इष्ट-देव भगवान शंकर थे।

## शैव मत—

शैव मत का प्रचार दक्षिण के तामिल प्रदेश में हुआ। अतः तामिल भाषा में रचे गये शैव ग्रन्थ अत्यन्त आदरणीय हैं। शैव सिद्धान्त के दो मूल आधार थे—(१) वैदिक शैव मत की परम्परा (२) आगम। आगम ही शैव

सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका विश्वास है कि भगवान शिव के पाँच मुख हैं—(१) सद्योजात (२) वामदेव (३) अघोर मुख (४) तत्पुरुष मुख (५) ईशान मुख। इन मुखों से भक्तों के उद्धार हेतु उन्होंने कामिक, योगज, सूक्ष्म, सहस्र, स्वायंभुव, अनल, विमल, परमेश्वर तथा सर्वोत्तर आदि २८ आगमों का उच्चारण किया।

शैव सिद्धान्त के अनुसार शिव के रूप में तीन पदार्थों की कल्पना की गई है—पति, पशु और पाश। पति से शिव का अभिप्राय है जो परम तत्व एवं परमेश्वर हैं। पशु जीव के लिये प्रयुक्त हुआ है। जीव के बन्धन के लिये पाश शब्द का प्रयोग है। जीव (पशु) पाश (बन्धन) को काट कर पति (शिव) की कृपा से 'शक्तिपात' प्राप्त कर अपनी बुद्धि तथा मन के मल को धोता है, तत्पश्चात् दीक्षा ग्रहण कर मुक्ति प्राप्त करता है।

पाशुपत मत—

इस मत के संस्थापक नकुलीश या लकुलीश थे जो भगवान शंकर के अठारह अवतारों में सर्वप्रथम अवतार माने जाते हैं। लगुड् या दण्ड धारण करने के कारण इनका यह नाम पड़ा। लिंग तथा वायु पुराण में इनके इस अवतार की कथा है और महाभारत के नारायणीय खंड में पाशुपत मत का वर्णन है। इसका साहित्य अत्यन्त सीमित है। मध्वाचार्य के "सर्वदर्शनसंग्रह" ग्रंथ में प्राप्त 'नकुलीश पाशुपत' के ही आधार पर इसे यह नाम दिया गया। शैव सिद्धान्तों की ही भाँति इसमें भी पति, पशु, पाश की कल्पना है। इस मत के अनुसार पाँच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि, दुःखान्त।

स्वातन्त्र्य शक्तियों से रहित को कार्य कहते हैं। कार्य के तीन भेद हैं—विद्या,कला तथा पशु। इन्हीं का इसमें विवेचन है। सम्पूर्ण सृष्टि के संहार तथा अनुग्रह के हेतु होने के कारण शिव कारण कहलाते हैं। चित्त के द्वारा आत्मा और ईश्वर में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के साधन को योग तथा धर्म का साधक व्यापार विधि के नाम से प्रसिद्ध है। दुःख की निवृत्ति का नाम दुःखान्त है। यह दुःखान्त दो प्रकार का होता है—अनात्मक और सात्मक। अनात्मक द्वारा दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति तथा सात्मक द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में अद्भुत ज्ञान तथा अद्भुत क्रिया शक्ति का आविर्भाव होता है। अद्भुत ज्ञान पाँच प्रकार का है—दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञत्व। इसके अतिरिक्त

अद्भुत क्रिया शक्ति तीन प्रकार की होती है—मनोजवित्व, कामरूपित्व और विकरणधर्मित्व। इस प्रकार दुःखान्त ( मोक्ष ) में इन शक्तियों द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

### कालामुख और कापालिक मत—

ये दोनों ही अत्यन्त रहस्यपूर्ण हैं। इनके परिचय के लिये अधिक साधन भी नहीं हैं। ये दोनों ही शैव मत के उग्र रूप हैं। रामानुज के मतानुसार कापालिकों के लिये ६ मुद्राओं का धारण करना अत्यन्तावश्यक है तभी उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म तथा यज्ञोपवीत ये ही ६ मुद्रायें हैं। इसके अतिरिक्त पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिये छः साधन कापालिकों द्वारा कहे गये हैं—कपालपात्र में भोजन, शव के भस्म से स्नान; लगुड् धारण, तन्त्र स्थित देवोपासना तथा सरा-कुंभ की स्थापना। रुद्राक्ष माला, जटा जूट, कपाल, भस्म आदि इस सम्प्रदाय की पवित्र एवं आवश्यक वस्तुयें हैं। इस मत के अनुयायी भैरव के भक्त होते हैं।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि ये बड़े ही भयंकर सम्प्रदाय थे। वैदिक काल में प्रकृति की कुछ भयंकर शक्तियों के द्वारा जो रुद्र की कल्पना की गई थी उसी के आधार पर इस सम्प्रदाय के भैरव तथा चण्डिका आदि की स्थापना हुई। कापालिक लोग सुरा, रक्त, मानव बलि द्वारा इन्हें प्रसन्न करते हैं। इन सम्प्रदायों के विषय में पूर्ण रूप से जानकारी प्राप्त करने के लिये कोई प्रामाणिक सामग्री नहीं है।

### काश्मीर शैव मत—

इस मत का मूल आविर्भाव शिव द्वारा हुआ किन्तु आचार्य वसुगुप्त ने इसे लोक में सर्वप्रथम स्थापित किया। इसकी दो शाखायें थीं—स्पन्द-शास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। वसुगुप्त की स्पन्दकारिका के आधार पर प्रथम शाखा का नाम पड़ा तथा वसुगुप्त के शिष्य कल्लट इसके प्रथम आचार्य कहे जाते हैं। वसुगुप्त के द्वितीय शिष्य सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का प्रवर्तन किया। ये दोनों ही शास्त्र सैद्धान्तिक दृष्टि से समान हैं।

इसके अन्तर्गत शिव को ही एकमात्र सत्य माना जाता है। उन्हीं की पूजा होती है किन्तु शिव की पूजा के साथ ही साथ शक्ति को भी

स्थान दिया गया है। यह मत जीव और ब्रह्म की एक ही सत्ता मानता है। ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं। सम्पूर्ण सृष्टि में शिव की भावना निहित है किन्तु अज्ञानवश जीव अपने में शिव का अनुभव नहीं कर पाता किन्तु प्रत्यभिज्ञा द्वारा जब उसे ज्ञान हो जाता है तब उसका शिव के साथ साक्षात्कार हो जाता है और वह आत्मसमर्पण कर मुक्ति प्राप्त करता है।

**वीरशैव मत—**

शैवधर्म जो दक्षिण भारत में प्रचलित है उसी को वीर शैव मत कहा गया। इसके प्रवर्तक वसव थे। इस मत के अनुयायी अपने गले में शिवलिंग धारण करते हैं। इस मत के प्रचारकों में रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य आदि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने शिव के सिद्धेश्वर, सोमेश्वर, रामनाथ आदि नामों से प्रभावित होकर शैवधर्म का प्रचार किया। सैद्धान्तिक दृष्टि से इसे एक प्रकार का विशिष्टाद्वैत कहा जा सकता है। शिव को ही परम शक्ति मानने के कारण इसमें शक्तिविशिष्टाद्वैत की भावना निहित है। इसके अन्तर्गत शिव को 'स्थल' संज्ञा प्रदान की गई है क्योंकि शिव से उत्पन्न सृष्टि शिव में ही लीन हो जाती है। 'स्थ' से जगत की स्थिति के आधार से अभिप्राय है तथा 'ल' के द्वारा लय अर्थ प्रकट होता है। अतः 'स्थल' संज्ञक शिव ही जगत के आश्रय और परमानंद की प्राप्ति के साधनों के परम लक्ष्य हैं।

**शाक्त मत—**

ऋग्वेद में जो रुद्र की कल्पना है उसके साथ यद्यपि किसी स्त्री देवता का उल्लेख नहीं प्राप्त होता फिर भी रुद्राणी, भवानी आदि नामों का उल्लेख अवश्य है। महाभारत के एक स्तोत्र में दुर्गा की वन्दना है जिसमें दुर्गा को काली, कपाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला तथा विजया आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। अतः जिस प्रकार अनेक देवताओं की कल्पना एक होकर ब्रह्म बन गई उसी प्रकार इन देवियों के अनेक नाम एक होकर शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए। देवी शक्ति का अवतार है। इसी के आधार पर शाक्त मत का जन्म हुआ। यह मत भी शैव सम्प्रदाय के ही अन्तर्गत आ जाता है क्योंकि कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय में इस शक्ति की उपासना का बहुत बड़ा अंश है। इन सम्प्रदायों के अन्तर्गत इसने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया।

इस मत के अनुयायी शिव तथा शक्ति को परम तत्व मानते हैं। इनका विश्वास है कि शिव शक्ति की ही सहायता से सृष्टि की रचना करने में समर्थ होते हैं। शक्ति ही मूल क्रिया एवं सृजनशक्ति है जो शिव में विद्यमान है। इन्होंने समस्त जीवों को त्रिपुर-सुन्दरी के ही रूप बतलाया है। इसी के द्वारा सम्पूर्ण वस्तुजगत उत्पन्न होता है। इसकी उपासना दीक्षा द्वारा होती है। यह दीक्षा तीन प्रकार की होती है—पहली दीक्षा महापद्मवन में शिव के समीप में स्थित देवी की आराधना होती है। दूसरी चक्ररूपा दीक्षा है। इसके अन्तर्गत इसकी उपासना श्रीचक्रों के रूप में की जाती है। तीसरी दीक्षा गुरू से शाक्त मंत्रों का अध्ययन कर तथा उसके तत्वों को समझ कर सम्पादित की जाती है।

चक्ररूपा दीक्षा में भोजपत्र, रेशमी वस्त्र तथा स्वर्णपत्र पर श्रीचक्र अंकित किया जाता है। इसके अन्तर्गत शाक्तों की उपासना के दो वर्ग हैं— कौलिक तथा समयी। उपासना के क्षेत्र में यह सिद्धांत त्रिपुरा सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि भक्ति भावना अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि इसके अन्तर्गत आदिकाल से लेकर आज तक अनेक देवों के रूपों तथा विविध साधनों एवं कर्मों का समावेश हुआ किन्तु इन समस्त भक्ति सम्प्रदायों का मूल एवं परम लक्ष्य ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही है और यही है भारतीय भक्ति-पद्धति का रहस्य।

# जाति-भेद

भारतीय संस्कृति के दो आधारभूत सुदृढ़ स्तम्भ हैं— वर्णव्यवस्था तथा आश्रम धर्म। ये दोनों ही व्यवस्थायें भारतीय समाज की अमूल्य निधि हैं क्योंकि आदिकाल से अनेक आघात सहती हुई भी ये अपने अमरत्व को अक्षुण्ण बनाए रखने में समर्थ हुईं।

## वर्णव्यवस्था की प्राचीनता—

वर्णव्यवस्था पर ऐतिहासिक दृष्टिपात करने पर यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि यह व्यवस्था वेदों के समय में भी विद्यमान थी क्योंकि ऋग्वेद के दशम मंडल में पुरुषसूक्त के एक मंत्र में वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत आई हुई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चारों जातियों की उत्पत्ति विराट पुरुष से बताई गई है। ब्राह्मणों की उस विराट पुरुष के मुख से, क्षत्रियों की भुजाओं से, वैश्यों की जंघा से तथा शूद्र की पादों से उत्पत्ति हुई।[1] अतः वर्णव्यवस्था को हम उतनी ही प्राचीन कह सकते हैं जितना प्राचीन ऋग्वेद है, यद्यपि इसका वाह्य रूप सामयिक संघटनाओं द्वारा अवश्य ही परिवर्तित होता गया।

## उत्पत्ति तथा आधार—

प्राचीन भारत में समाज के दो रूप थे—आर्य तथा अनार्य। आर्यों में परस्पर किसी प्रकार का भेद न था। समस्त आर्यों में परस्पर खानपान

---

१—"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋग्वेद १०।९०।१२)

विवाहादि प्रचलित थे। तदनन्तर उनका पारस्परिक सम्पर्क बढ़ता ही गया जिसके फलस्वरूप उनमें एकीकरण की भावना का आविर्भाव हो गया।

आरम्भ में उन आर्यों का निवासस्थान सप्तसिन्धु तथा सरस्वती नदी के आसपास था। वहाँ सब परस्पर मिलजुल कर रहते तथा पूजा-पाठ, अध्ययन, पशुपालन आदि कर्म करते थे। इसके अतिरिक्त वे जीविका के लिये इधर उधर देशाटन करते थे। तत्पश्चात् शनैः शनैः जंगली व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं से अपने पशुओं को बचाने के लिये उन्होंने एक ही स्थान पर रहना प्रारम्भ कर दिया। अतः इसी समय से भारतीय समाज में परिवार की भावना का सूत्रपात हुआ। आगे चलकर जैसे जैसे उनकी आवश्यकताओं की वृद्धि होती गई वैसे ही वैसे अनेक परिवार मिलकर एक ही स्थान में रहने लगे और सब अपने पशु भी एक ही स्थान पर बाँधने लगे। उस समय पशु बाँधने के स्थान को गोत्र कहते थे। अतः जो प्रत्येक परिवार का मुखिया होता था उसी के नाम पर उस गोत्र का नाम पड़ जाता था। कुछ समय बाद एक गोत्र में रहनेवाले समस्त परिवार उसी गोत्र में सम्मिलित हो गये। यही गोत्र की भावना उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और अत्यधिक दृढ़ होती गई। ब्राह्मण तथा सूत्रकाल में इसी गोत्र का सम्बन्ध ऋषियों से हो गया। इस प्रकार गोत्र की उत्पत्ति हुई जो आज भी प्रचलित है।

गोत्र की उत्पत्ति के पश्चात् अनेक गोत्रों को सम्मिलित कर गोष्ठी का निर्माण हुआ। बाद में गोष्ठियों से मिल कर ग्राम तथा ग्रामों को मिला कर जनपद का निर्माण हुआ। अतः आर्य अलग अलग जनपदों में रहने लगे। उन जनपदों में मन्त्री, पुरोहित, स्वर्णकार, त्वष्टा आदि विभिन्न व्यवसायी भी थे किंतु उनकी कोई जातिविशेष का कोई उल्लेख नहीं है। वे परस्पर मिल जुल कर रहते थे।

आर्यों की ही भांति अनार्यों में भी इसी प्रकार की एकता थी। किन्तु शनैः शनैः मनुष्य की आवश्यकताओं की वृद्धि होने लगी और इसकी सीमा अधिक विस्तृत हो गई जिसके फलस्वरूप आर्य तथा अनार्य भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये परस्पर मिलने जुलने लगे। अनार्यों के साथ सम्पर्क होने से आर्यों की संतान के गौरवर्ण में अन्तर प्रारम्भ हो गया। अतः रक्त की शुद्धता की वृद्धि तथा संकरता को रोकने के लिये उनमें संघर्ष होने लगा और यह दिन प्रति दिन अधिक विकट रूप धारण करता गया जिससे आर्यों के नित्य कर्मों, उपासना तथा आराधना आदि में विघ्न पड़ने लगे। तब सुविधा के लिये आर्यों ने अपने बीच में तीन दलों का निर्माण किया जिनमें

कुछ व्यक्तियों को केवल पूजा पाठ, यज्ञादि कर्म सौंपे, कुछ को रक्षा का भार पूर्ण रूप से सौंपा गया, कुछ व्यक्ति केवल व्यवसाय, पशु पालन तथा कृषि आदि कर्मों को करने के लिये नियुक्त किये गए। वर्णव्यवस्था की ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जातियाँ इसी के विकसित रूप हैं। समाज में इतना नियंत्रण करने पर भी संकरता का अन्त न हुआ। अतः आर्य तथा अनार्य दोनों के सम्पर्क से उत्पन्न हुई संतान शूद्र कहलाईं। इनको आर्यों ने सेवा का भार सौंपा। इस प्रकार हम देखते हैं कि परिस्थितियों ने ही जातिभेद की व्यवस्था को जन्म दिया।

उस समय वर्णव्यवस्था का आधार गुण तथा कर्म था क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य निपुणता से नहीं कर सकता। कोई व्यक्ति किसी कर्म में निपुण होता है तो किसी में दूसरा कर्म करने का गुण होता है। अतः गुणों के ही अनुसार व्यक्ति को कर्म सौंपे जाते थे और वह जिस प्रकार के कर्म करता था उसी पर उसकी जाति निश्चित की जाती थी। गीता में भी भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने मुख से स्वयं कहा है—

**"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"**

इस प्रकार गुण एवं कर्म के अनुसार जाति निश्चित करने का प्रमाण सिद्ध हो जाता है।

तत्पश्चात् आगे चलकर यह क्षेत्र अधिक व्यापक होता है और पूर्ण रूप से पूजा पाठ आदि का कार्य ब्राह्मण, रक्षा का कार्य क्षत्रिय तथा व्यवसाय का कार्य वैश्य ही करने लगे। पहले ब्राह्मण चारों वर्णों में, क्षत्रिय तीन वर्णों में और वैश्य दो जातियों में विवाह कर सकते थे। किन्तु धीरे-धीरे ब्राह्मण आदि अपने तक ही सीमित रहने लगे और वे अपनी सन्तानों को भी उसी प्रकार की शिक्षा देने लगे जो उनके वर्ण के अनुकूल थी। इस प्रकार धीरे-धीरे चारों वर्णों के कार्य चारों वर्णों की ही संकुचित सीमा में आबद्ध हो गये। इस प्रकार से जन्म के ही अनुकूल कार्य सिखाया जाने लगा और जन्म द्वारा ही जाति निश्चित होने लगी। बालक की जाति पिता की ही जाति के ऊपर निर्धारित होती थी यथा—

**'त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत्'**

अर्थात् ब्राह्मण की सन्तान ब्राह्मण ही कहलायगी चाहे वह किसी भी वर्ण की स्त्री से क्यों न उत्पन्न हुई हो—उदाहरणार्थ वेदव्यास ब्राह्मण

ही कहलाए यद्यपि वे पराशर ऋषि से मछुए की कन्या सत्यवती के गर्भ में उत्पन्न हुए थे। यह प्रथा दिन पर दिन दृढ़ होती गई।

कुछ ही समय पश्चात् महाभारत काल में बालक की जाति पिता से हटा कर माता की जाति पर होने लगी। भिन्न-भिन्न वर्ण की स्त्री से उत्पन्न हुई संतानों के भिन्न-भिन्न नाम रखे गये। इस प्रकार अन्तर्वर्ण विवाह द्वारा अनेक जातियां बन गईं। इसके साथ ही साथ समाज में कुत्सित भावनाओं का प्रवेश होने लगा। इस प्रथा का याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में खण्डन किया जिसके फलस्वरूप अन्तर्वर्ण विवाह बन्द होने लगे और प्रतिलोम तथा अनुलोम विवाहों का भी अन्त हो गया। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपनी ही अपनी जाति में विवाह आदि करने लगे और वर्णव्यवस्था जन्मतः हो गई।

इस जन्मगत वर्णव्यवस्था के विषय में अनेक विद्वानों के विभिन्न मत हैं। चीनी यात्री मेगास्थिनिस् ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में चंद्रगुप्त मौर्य की राजसभा में आया था। उसने भारत का अत्यन्त विशद् तथा सुन्दर वर्णन किया है। वह अपने ग्रन्थों में तत्कालीन भारत की वर्णव्यवस्था के विषय में लिखता है कि भारत में उस समय सात प्रकार की जातियाँ थीं— दार्शनिक, योद्धा, शिल्पी, कृषक, पशुपालक, सदस्य और परिदर्शक। किन्तु इसमें कुछ त्रुटि अवश्य है क्योंकि मौर्य साम्राज्य में अधिकांश व्यक्ति वैदिक सनातन धर्म के मतावलम्बी थे।

इसके बाद मेगास्थिनिस् का कथन है कि किसी को भी न तो अपनी जाति से बाहर विवाह करने का अधिकार था, न वह अपनी वृत्ति को त्याग कर अन्य वर्ण की वृत्ति को ग्रहण कर सकता था— उदाहरणार्थ न योद्धा कृषक बन सकता था और न शिल्पी दार्शनिक।[1]

इससे स्पष्ट है कि २२००-२३०० वर्ष पूर्व भारत में वर्ण अथवा जाति जन्मगत थी और व्यक्ति जन्मानुसार ही कर्म करते थे। किंतु इसका यह अर्थ न था कि कर्म के अनुसार जाति निर्धारण पूर्णतया समाप्त हो चुका था। अतः समाज में वर्णव्यवस्था के दो आधार थे।

---

1 "No one is allowed to marry out of his own caste, or to exchange one profession or trade for another, or to follow more than one business. An exception is made in favour of the Philosopher, who for his virtue is allowed this privilege."

(Mc Crindle : Megasthenes pp 85-86)

१—गुण तथा कर्मानुसार

२ —जन्म के अनुसार

ये दोनों ही प्रथायें निरन्तर चलती रहीं मनु ने जाति भेद का आधार कर्म ही माना जैसा कि उन्होंने कहा है—

"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते"

अर्थात जन्म से जो शूद्र हैं वह संस्कार द्वारा ब्राह्मण हो सकता है।

इसी प्रकार कर्म के ही आधार को पाश्चात्य विद्वान वार्ड ने भी स्वीकार किया। वे अपने योरोपीय इतिहास में चार प्रकार के वर्णों का उल्लेख करते हैं—( १ ) पादरी वर्ग (२) सैनिक वर्ग (३) व्यापारी वर्ग (४) श्रमिक वर्ग। ये चारों ही हमारे भारतीय जाति भेद के ही समान हैं और यह विभाजन कर्मों के ही आधार पर हुआ है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य देशों में जो अभिजात्य वर्ग ( Higher class ), अल्प विशेषाधिप्राप्त-वर्ग ( middle class ), निकृष्ट अथवा स्वत्वहीन वर्ग (lower class) यह तीन वर्ग मिलते हैं वह भी पाश्चात्यों की उन तीन महान भावनाओं के प्रतीक हैं—

१—सजातीय बोध।

२—अपने को दूसरे से ऊँचा समझना।

३—अपने को अन्य से नीचा समझना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय वर्ण व्यवस्था की भावना के मूल सिद्धान्त न केवल भारत में अपितु संसार के प्रत्येक देश में किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं।

उद्देश्य—

मनुष्य के पूर्वजन्म के संस्कारों द्वारा ही उसका निर्माण होता है। और उसी के अनुरूप ही उसे जन्म धारण करना पड़ता है गीता में भी कृष्ण भगवान ने इसी का प्रतिपादन किया है।[1] इसके अतिरिक्त पूर्वजन्म के ही अनुसार उसके संस्कार तथा बुद्धि भी बन जाती है। अतः यदि किसी व्यक्ति को उसके स्वाभाविक संस्कारों से भिन्न कर्मों में लगाया जाय तो उसे हृदयङ्गम करने तथा उसको समझकर करने में उस व्यक्ति को अत्यधिक कठिनाई का

---

१—"तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्"

( गीता—६।४३ )

सामना करना पड़ेगा और यदि किसी प्रकार से करेगा भी तो उसको अधिक मात्रा में मानसिक शक्ति खर्च करनी पड़ेगी। इसी कारण हमारी भारतीय संस्कृति ने समाजोन्नति के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों के लिये कार्य निश्चित कर उनकी सीमा भी निर्धारित कर दी है। ब्राह्मण का मस्तिक अधिक विकसित होता था। वे सदाचार पूर्ण, धर्म प्रेमी एवं तीव्र बुद्धि वाले थे। सत्व गुण उनमें प्रधान था इसलिये ब्राह्मणों के लिये पठन-पाठन, पुरोहिती, दान ग्रहण आदि कर्म निश्चित कर दिये गये। क्षत्रियों में रजोगुण की प्रधानता थी और वे अत्यन्त वीर होते थे अतः उनके ऊपर पूर्ण रूप से रक्षा का भार सौंपा गया। इसके अतिरिक्त वे वेदाध्ययन तथा यज्ञादि भी कर सकते थे, करवा नहीं सकते थे, दान देने का अधिकार उन्हें था किन्तु लेने का नहीं।

वैश्यों की बुद्धि इतनी विकसित न होती थी न उनमें शारीरिक बल ही अधिक रहता था। अतः कृषि, व्यवसाय, पशु पालन आदि का कार्य भार उन्हें सौंपा गया क्योंकि इन कार्यों में साधारण बुद्धि तथा साधारण शारीरिक बल की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त वैश्य भी यज्ञादि तथा वेदाध्ययन कर सकते थे। ये तीनों वर्ण एक श्रेणी में आ जाते हैं। इन तीनों ही वर्णो में यज्ञोपवीत संस्कार होता था अतः ये जातियाँ द्विज के नाम से प्रसिद्ध हैं। शूद्र इन तीनों वर्णों से भिन्न थे उनमें न शारीरिक बल था न बौद्धिक विकास अतः उन्हें समाज की सेवा का भार सौंपा गया। उन्हें वेदाध्ययन यज्ञादि करने का अधिकार न था क्योंकि उनमें इतनी योग्यता ही न थी कि वे यह कार्य कर सकते।

इस प्रकार सबके कार्य निश्चित थे किन्तु समय पड़ने पर तीन वर्ण परस्पर एक दूसरे के कार्य भी कर सकते थे। क्षत्रिय यदि चाहे तो वह अपने कार्य का सम्पादन कर ब्राह्मण का भी कार्य कर सकता था। उदाहरणार्थ विश्वामित्र राजर्षि होने पर भी कठिन तप द्वारा अपने में सतोगुण की वृद्धि करके ब्रह्मर्षि बन गए।

अतः शक्ति के अत्यधिक व्यय से समाज को बचाने के लिये कर्म विभाजन के सिद्धान्त का सूत्र पात हुआ। इसका मुख्य ध्येय यही था कि प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को अपने अनुरूप सांसारिक कार्य करने के पश्चात ब्रह्म की ओर ध्यान करने का अवसर मिले। इस प्रकार वर्णव्यवस्था एवं जाति भेद का परम उद्देश्य मनुष्य का हितकर उसे परब्रह्म की ओर अग्रसर करना

था। अतः इसका पूर्ण रूप से पालन कर किसी भी वर्ण का व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता था।

लाभ—

इस प्रकार हम देखते हैं कि जाति व्यवस्था समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई और सामाजिक परिस्थितियों ने इसे जन्म भी दिया।

इसके द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा हुई क्योंकि जिस समय इसका सूत्रपात हुआ उस समय लोगों का सम्बन्ध राजा से न होकर पूर्णतया जन पदों से तथा उसके नियमों से था। जिसके फलस्वरूप ये स्वतन्त्र रूप से कार्य करने में समर्थ थे।

वर्णव्यवस्था ने जातिविशेष के प्राणियों में एकता की भावना का प्रसार किया। समान जाति वालों में अपनत्व की भावना अधिक दृढ़ हो गई इस प्रकार समाज के प्रत्येक क्षेत्र की उन्नति होने लगी।

वर्ण व्यवस्था द्वारा कला की भी अधिक उन्नति हुई, क्योंकि जाति भेद द्वारा भारत म इस प्रवृत्ति का शीघ्र ही प्रसार हो गया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र की अधिक से अधिक उन्नति करे। उदाहरणार्थ एक शिल्प कुछ विशेष कुलों के अन्तर्गत स्थापित रहा। अतः पुत्र अपने पिता से ही शिल्प ज्ञान करता था और कुमारावस्था के व्यक्ति अपनी ही जाति के किसी पारंगत व्यक्ति से शिल्प की शिक्षा ग्रहण करते थे। अतः इस प्रकार शिल्प के क्षेत्र का अत्यधिक विकास हुआ। इसके द्वारा देश में शांति स्थापित हो गई।

इसके अतिरिक्त जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह है इसके मूल में निहित मुक्ति की भावना। वर्ण व्यवस्था में कार्य विभाजन की योजना-द्वारा व्यक्तियों के पास कार्य कम हो गया। अतः उनकी शारीरिक, मानसिक शक्तियों का भी व्यय कम होने लगा। उन्हें जो अवकाश मिलता था उसमें वे अपने मन को आध्यात्मिकता की ओर लगाने लगे जिससे अपनी प्रकृति के अनुरूप जगत्कार्यों को करके तथा भगवान म ध्यान लगा कर अपने लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों को प्रशस्त बनाने में समर्थ हुए।

दोष—

इसके द्वारा समाज में अनेक दोष भी आ गय। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय

अन्य वर्णों को घृणा की दृष्टी से देखने लगे और उन्होंने उनसे मिलना जुलना भी समाप्त कर दिया। इस प्रकार विद्या का क्षेत्र ब्राह्मणों आदि तक ही सीमित रह गया देश में व्यवसायी, शिल्पी तथा शूद्रादि निरक्षर ही रह गये जिससे वे अपने जीवन में अधिक उन्नति न कर सके। यही कारण है कि वर्तमान युग में अंग्रेज शिल्पी विद्या सम्पन्न होने के कारण अधिक उन्नति कर सकता है, किन्तु भारतीय शिल्पी उन्नति नहीं कर सकता। शिल्प का कौशल दोनों में विद्यमान रहता है किन्तु एक शिक्षा द्वारा उससे अधिक लाभ उठा लेता है दूसरा शिक्षा रहित होने के कारण उन्नति के पथ से वंचित रह जाता है।

वर्णव्यवस्था द्वारा समाज में छुआछूत की भावना फैल गई जो मानव जाति के लिए घातक सिद्ध हुई। हम सब एक देश के वासी हैं तथा सब में ब्रह्म का अंश है। अतः सब समान हैं यह भावना लोगों के हृदय से लुप्त हो गई। समाज में परस्पर द्वेष की वृद्धि होने लगी। अधिकांश जनता के निरक्षर होने से देश की उन्नति में भी बाधा पड़ने लगी जो देश की सभ्यता तथा संस्कृति के लिये घातक सिद्ध हुई।

यद्यपि वैदिक काल में इसके अन्तर्गत यह दोष न थे क्योंकि उस समय सब वर्णों में परस्पर सम्बन्ध था किन्तु जैसे जैसे प्रत्येक जाति के लोग अपनी भारतीय संस्कति के 'सर्व' खल्विद ब्रह्म, के आदर्श को भूलते गये वैसे ही वैसे उनका पतन होने लगा और इस जाति भेद के अन्तर्गत भी अनेक दोष आ गए।

# विदेशों में भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति के अमर सूत्र प्रागैतिहासिक युग से ही संसार के अणु अणु में व्याप्त दिखलाई पड़ते हैं। आरम्भ काल से भारत का सम्बन्ध संसार के सभी देशों से रहा है।

आदि काल में फारस, एशियामाइनर तथा सिकन्दरिया तीन ऐसे केन्द्र थे जहाँ संसार के भिन्न-भिन्न भागों के विद्वान धर्म, दर्शन एवं विज्ञान पर विचार-विनिमय करने के लिये एकत्रित होते थे। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वाणिज्य, व्यापार तथा समुद्री यात्राओं द्वारा भारत का इन देशों से सम्बन्ध था। यूनानी तथा फारसी परम्पराओं से यह प्रकट होता है कि भारतीय ब्राह्मण इन देशों में वर्तमान थे। इस बात को मैक्समूलर, गार्बे ( Garbe ) तथा विंटरनीज नाम के विद्वानों ने भी माना है।

## यूनानी दार्शनिक सिद्धान्तों पर भारत का प्रभाव—

यहाँ हमें इस बात का ध्यान रखना है कि यूनानी दर्शन के पिता थेल्स (Thales) माने जाते हैं जिनका जन्म ईसा के ६०० वर्ष पूर्व हुआ था, किन्तु भारत म दार्शनिक विचार-धारा वैदिक काल में ही ( ईसा के लगभग २००० वर्ष पूर्व ) वर्तमान थी। अतः स्पष्ट है कि भारत में दार्शनिक सिद्धान्तों का पूर्ण विकास हो जाने के पश्चात् यूनानी दर्शन का आरम्भ होता है।

गार्बे (Garbe) तथा विन्टरनीज का कथन है कि भारत के साख्य दर्शन का प्रभाव हेराक्लिटस (Heraclitus), एनेक्जागोरस (Anaxagoras), डमोक्रिटस (Demokritus) तथा एपीक्यूरस के दार्शनिक विचारों पर पड़ा। इसके अतिरिक्त एम्पेडाकिल्स (Empedocles) का यह कथन है कि असत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं तथा सत् का विनाश नहीं हो सकता, सांख्य दर्शन के विचारों से मिलता जुलता है। ऐसा कहा जाता है

कि थेल्स, एम्पेडाकिल्स आदि विद्वान दर्शन शास्त्र के अध्ययनार्थ फ़ारस आए और वहाँ से भारतीय विचारधारा को ग्रीस ले गए।

यूनानी दार्शनिक पिथागोरस (Pythagoras) पर भी भारतीय दर्शन का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं में प्रचलित एक परम्परा के अनुसार ऐसा कहा जाता है कि पिथागोरस हिन्दू था और इसका संस्कृत का नाम पृथ्वीगुरु था और वह हिन्दू दर्शन के प्रचारार्थ यूनान गया। इस परम्परा में यदि हम विश्वास न करें तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि यदि भारत में नहीं तो फ़ारस में अवश्य पिथागोरस का सम्पर्क भारतीय ब्राह्मणों से हुआ। भारतीय विचारधारा से प्रभावित होकर ही पिथागोरस ने पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसके अतिरिक्त पिथागोरस की प्रसिद्ध प्रतिज्ञा (theorem), जो आजकल यूक्लिड की ज्यामिति (Euclidean Geometry) में ४७ वीं प्रतिज्ञा (theorem) है, बौद्धायन के शुल्वसूत्र से ग्रहण की गई। पिथागोरस के संख्या सम्बन्धी विचार की प्रेरणा भी भारतीय विचारधारा से मिली।

मैक्समूलर का कथन है कि सुकरात (Socrates) के समय में भारत के ब्राह्मण एथेन्स नामक नगर को जाया करते थे। ऐसा कहा जाता है कि एक बार एक ब्राह्मण का सुकरात से शास्त्रार्थ हुआ। सुकरात ने यूनानी दर्शन की विशेषता बतलाते हुए कहा कि उनके दर्शन का मुख्य उद्देश्य मनुष्य जीवन के विषय में अनुसन्धान करना है। इस पर भारतीय दार्शनिक ने हँस कर उत्तर दिया कि कोई भी व्यक्ति ईश्वर तत्व को समझे बिना पुरुष तत्व को कैसे समझ सकता है। इस बात का सुकरात पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

सुकरात के शिष्य प्लटो (Plato) पर भी भारतीय दर्शन की छाप पड़ी। प्लेटो ने एशिया के देशों की सांस्कृतिक यात्रा की। वे फ़ारस आए और कुछ विद्वानों का मत है कि वे कुछ समय तक भारत में भी रहे। प्लेटो के पुनर्जन्म तथा आत्मा सम्बन्धी दार्शनिक विचार सांख्य दर्शन के विचारों से मिलते हैं। हाप्किन्स (Hopkins) नामक विद्वान का कथन है कि प्लेटो ने सांख्य विषयक विचार पिथागोरस से ग्रहण कर स्वयं प्रतिपादित किया। प्रोफ़ेसर उर्विक (Urwick) का मत है कि प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रिपब्लिक (Republic) में भारतीय विचारों को ही दुहराया है। प्लेटो का संरक्षक (Guardians), सहायक (Auxiliaries) तथा शिल्पी

(Craftsmen) इन तीन भागों में आदर्श राज्य का विभाजन भारतीय जाति-व्यवस्था का ही दूसरा रूप है।

ईसा के लगभग ३०० वर्ष पूर्व मिस्र देश का **सिकन्दरिया** नगर संस्कृति तथा शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र था जहाँ प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों का पारस्परिक विचार-विनिमय होता था। प्लाटिनस (Plotinus) नामक विद्वान, जिसका जन्म यूनान में हुआ था, दर्शनवेत्ता होने के कारण सिकन्दरिया गया। बाद को वह अभिनव-प्लेटोवाद (Neo-Platonism) का प्रवर्तक हुआ। सिकन्दरिया में भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि ब्राह्मणों तथा बौद्धों ने इस अभिनव-प्लेटोवाद तथा ईसाई मर्मी-साधना (Christian Mysticism) के सिद्धान्तों के विकास में काफी सहायता दी। प्लिनी नामक विद्वान का कथन है[1] कि सीरिया, फ़िलिस्तीन तथा मिस्र में बहुत से बौद्ध रहते थे।

भारतीय संस्कृति के प्रचार में बौद्ध धर्म का विशेष स्थान है। महात्मा गौतम बुद्ध की मृत्यु के पश्चात एक ही शताब्दी के अन्दर उनका नाम बैक्ट्रिया (Bactria) तक पहुँच गया था। सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सीरिया, मिस्र, सिरीन (Cyrene), मैसीडोनिया (Macedonia) तथा एपिरस (Epirus) में दूत भेजे। इसके अतिरिक्त उन्होंने केवल लंका तथा हिन्देशिया (Indonesia) में ही नहीं वरन् एशिया, अफ्रीका तथा योरोप के समस्त देशों में इस प्रकार दूत भेजे। उनमें से बहुत से दूत उन देशों में बस गए और उन्होंने बहुत से बौद्ध अनुयायी बनाए। ईसा की दूसरी तथा तीसरी शताब्दियों में सिकन्दरिया में भी बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रमाण मिलता है।

ईसाई धर्म के विकास में भी बौद्ध धर्म सहायक हुआ। बाइबिल की कथाओं की शैली बहुत कुछ बौद्धों की जातक कथाओं की शैली से मिलती है। विन्सेन्ट स्मिथ (Vincent Smith) तथा विन्टरनीज ने इस प्रभाव को स्वीकार किया है।

## साहित्य—

ऐसा कहा जाता है कि भारत की नीतिकथाओं एवं लोककथाओं का योरोप की इस प्रकार की कथाओं पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। पञ्चतन्त्र

---

1. Natural History.

तथा हितोपदेश प्राचीनतम नीतिकथायें हैं जिनका प्रभाव योरोपीय साहित्य पर मिलता है। ये कथाएँ ई० पू० छठी शताब्दी में एशिया माइनर पहुँची और ईसप (Aesop) ने ग्रीक भाषा में उनका अनुवाद किया। भारत की शुकस-प्रति का फारसी अनुवाद दसवीं शताब्दी में योरोप में प्राप्त हुआ। अँग्रेजी की Arabian Nights तथा Sindabad the Sailor नामक कहानियों में भी भारतीय प्रसंग मिलते हैं। अँग्रेजी काव्य के पिता चासर (Chaucer) की कहानियों [1] में भी भारतीयता के अंश प्राप्त होते हैं।

### विज्ञान तथा कला—

केवल दर्शन और साहित्य में ही नहीं वरन् विज्ञान के क्षेत्र में भी पाश्चात्य देशों में भारतीय प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

संख्याओं और दशमलव विधि का सर्व प्रथम विकास भारत में हुआ और यहाँ से ये विधियाँ अरब के बीच से योरोप को प्राप्त हुईं। संख्याओं में शून्य का बड़ा महत्व है। उसका जन्म भी भारत में हुआ।

बीजगणित की उत्पत्ति भारत में हुई और अरब के मध्य से इसका विस्तार योरोप में हुआ। रेखागणित का ज्ञान भारत में वैदिक काल में ही था। यज्ञों की वेदी आदि के निर्माण में इस ज्ञान की बड़ी आवश्यकता थी जैसा कि शुल्वसूत्रों से प्रकट होता है।

संगीतकला का शास्त्रीय रूप भारतवर्ष में सामवेद में मिलता है। उस समय संसार के किसी देश में उसका इतना विकास नहीं हुआ था। वैगनर (Wagner) को लैटिन भाषा के अनुवादों द्वारा भारतीय संगीत से परिचय प्राप्त हुआ और इस प्रकार वे भारतीय संगीत के ऋणी हैं।

### प्रागैतिहासिक युग—

समुद्री यात्राओं द्वारा प्रागैतिहासिक युग में भी भारत का सम्पर्क मिस्र, बैबीलोन, असीरिया जूडिया (Judea) तथा अमेरिका से था। भारत का इन सभी देशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध था। मिस्र के प्राचीन लोगों में भारत से मिलती-जुलती वर्ण-व्यवस्था थी। पुराणों में मिश्र देश का उल्लेख मिलता ह। वहाँ पर मिश्र शब्द से तात्पर्य है मिश्रित लोगों का देश अर्थात जहाँ

---

1. Conterbury Tales.

सांस्कृतिक एवं व्यापारिक कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न देशों के लोग एकत्र होते हों।

प्राचीन बैबीलोन तथा असीरिया में आदि पुरुष मनु की बाढ़ सम्बन्धी तथा अन्य कथाएँ और धार्मिक परम्पराएँ प्रचलित थीं। बैबीलोन के सृष्टि सम्बन्धी विचारों में वैदिक प्रभाव मिलता है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि असीरिया के लोग भारत से जाकर बसे हैं।

प्रागैतिहासिक अमेरिका में भी भारतीय प्रभाव मिलता है। मेक्सिको में प्राप्त एक मूर्ति द्वारा पता चलता है कि हिन्दुओं के गणेश देवता की पूजा वहाँ होती थी हमबोल्ट (Humboldt) नामक विद्वान का कथन है कि अमेरिका में योरोपीयों के उपनिवेश बसाने के पूर्व ही हिन्दुओं के रीति-रिवाज वहाँ प्रचलित थे। सर विलियम जोन्स के कथनानुसार दक्षिणी अमेरिका के पीरू के लोग अपनी उत्पत्ति सूर्यवंश से बतलाते थे और सूर्यदेव की उपासना करते थे। उनका सबसे बड़ा त्योहार राम-सीता के नाम से प्रसिद्ध था। श्रीचमनलाल [1] का कथन है कि अमेरिका के इन लोगों का हिन्दुओं के चार युगों, गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली, पंचायत प्रथा, इन्द्रगणेशादि देवों की पूजा, सती प्रथा आदि में विश्वास यह सिद्ध करता है कि निस्सन्देह अमेरिका की खोज सर्व प्रथम योरोपीय लोगों ने नहीं वरन् हिन्दुओं ने की।

इस्लाम धर्म के अभ्युदय के पूर्व अरब में बहुत से हिन्दू रहते थे जिनमें अधिकतर ब्राह्मण थे। ये लोग हिन्दू धार्मिक रीति-रिवाजों को मानते थे और मक्केश के रूप में शिव की पूजा करते थे जिससे मक्का शब्द उद्धृत बतलाया जाता है।

प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों से पता चलता है कि मध्य-एशिया के बमियान, बैक्ट्रिया, खोतान, मीरान, कुचेर Kucher), तुरफ़ान तथा तुन-ह्वाँग स्थानों पर भारतीय प्रभाव विद्यमान था। खोतान में तथा उसके आस-पास स्तूप, मठ, तथा विहार के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। काश्मीर के एक साधू विरोचन ने खोतान में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और इस प्रकार खोतान शिक्षा का एक मुख्य केन्द्र बन गया। महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अध्ययनार्थ गोतमी विहार नाम का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था जहाँ एशिया भर से लोग अध्ययन के लिए आते थे। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का भी वहाँ प्रयोग था। बहुत से भागों में गुप्त तथा खरोष्ठी लिपियाँ पाई जाती

---

1. **Hindu America.**

थीं। इस प्रकार मध्य-एशिया भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का एक बड़ा केन्द्र था।

## तिब्बत—

डा० पी० सी० बागची का कथन है[2] कि तिब्बत का सम्पूर्ण साहित्य भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद था। पाणिनि के व्याकरण का तिब्बत में अब भी मान है। बौद्ध साहित्य के अनुवाद के अतिरिक्त आयुर्वेद तथा ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों का अनुवाद भी तिब्बती भाषा में हुआ। इनमें से बहुत से अनुवाद किये हुए ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं।

## चीन—

भारत के बहुत से विद्वान, व्यापारी तथा धार्मिक यात्री मध्य-एशिया होते हुए चीन पहुँचे। यह कहना बहुत कठिन है कि भारतीय लोग सर्व प्रथम चीन में कब पहुँचे किन्तु ऐसा अनुमान कियाजा सकता है कि ये लोग ईसाकाल के बहुत पहले गये होंगे।

ई० पू० तीसरी शताब्दी में चीन ने भारतीय नक्षत्र-विज्ञान एवं भूगोल को अपनाया। भूगोल में उन्होंने इस भारतीय धारणा को माना कि सम्पूर्ण संसार नवखण्डों में विभक्त था और मेरु पर्वत उनके मध्य में था। उन्होंने २७ नक्षत्रों को माना। भारतीय विद्वान तथा व्यापारी ईसा की पहली शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक बराबर जाते रहे और इस बीच में बहुत से भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ। बौद्ध धर्म का चीन में बहुत प्रचार हुआ।

## कोरिया तथा जापान—

कोरिया ने चौथी शताब्दी में चीन से बौद्ध धर्म की प्रेरणा ली। धीरे धीरे बौद्ध संस्कृति ही कोरिया की राष्ट्रीय संस्कृति हो गई। कोरिया ने बुद्ध की सोने की मूर्ति, कुछ सुन्दर पताकाएँ तथा धार्मिक ग्रंथ जापान को मित्रता तथा आदर के चिह्न स्वरूप देकर जापान में बौद्ध धर्म की नींव डाली।

---

2. Lecture in Lucknow University on 19-12-59

ब्रह्मा अथवा ब्रह्मदेश—

सीलोनी बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक के धार्मिक दूत सुवर्ण भूमि अथवा निम्न ब्रह्म देश को भी गये। तीसरी शताब्दी में सहस्रों बौद्ध भिक्षु ब्रह्मा में पाये जाते थे। तीसरी और दसवीं शताब्दी के बीच के लिखित प्रमाणों से पता चलता है कि उस समय ब्रह्मा में संस्कृत और पाली साहित्य तथा ब्राह्मण और बौद्ध धर्म प्रचलित थे। शैव और वैष्णव धर्म के विविध सम्प्रदाय तथा बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान सम्प्रदाय प्रचलित थे।

कम्बोडिया, श्याम तथा अनाम—

कम्बोडिया ( प्राचीन कम्बोज ) ने बहुत आरम्भ में भारतीय सभ्यता को अपनाया इसकी मेकांग नदी का नाम मा-गंग (गंगा माता) शब्द से उद्धृत है। कम्बोज के शासक लोग कौटिल्य के अर्थ शास्त्र के नियमों का पालन करते थे। वहाँ पौरणिक हिन्दू धर्म, शैव, बौद्ध आदि सभी धर्म पाए जाते थे। कम्बोज के धार्मिक कृत्यों में शिव और विष्णु की उपासना एक मुख्य विशेषता रखती थी। संस्कृत भाषा तथा साहित्य का भी अध्ययन होता था। श्याम, अनाम ( प्राचीन चम्पा ) आदि देशों में भी इसी प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रचार था।

एशिया के दक्षिणी-पूर्वी द्वीपसमूह—

तीसरी शताब्दी में भारत की आन्ध्र और कलिंग जातियों ने मलय द्वीपसमूह में भारतीय राज्य की नींव डाली। सुमात्रा ( प्राचीन श्री विजय ) बौद्ध संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था जावा में बहुत काल तक कलिंग राजाओं ने राज्य किया। चौथी शताब्दी में फ़ाहियान नामक चीनी यात्री ने वहाँ ब्राह्मण धर्म का विकास देखा। काश्मीर के एक राजा गुणवर्मन् ने जावा में बौद्ध धर्म चलाया। जावा की कला, भाषा, साहित्य, राजनीति तथा सामाजिक संस्थाओं में अब भी भारतीय संस्कृति की छाप मिलती है। प्राचीन जावा के लोग शिव और शक्ति के उपासक थे। गणेश, कार्तिकेय, विष्णु आदि देवों की भी मूर्तियाँ मिली हैं। बोर्नियों में शिव, गणेश, अगस्त्य, ब्रह्मा, महाकाल आदि की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

बाली द्वीप भारतीय सांस्कृतिक साम्राज्य के इतिहास में अपूर्व विशेषता रखता है। यह एक ऐसा उपनिवेश है जहाँ की संस्कृति और सभ्यता

में अब भी हिन्दुत्व का अंश वर्तमान है। इससे पता चलता है कि इस द्वीप के निवासियों पर भारतीय विचारों का कैसा गहरा प्रभाव पड़ा है। फ़िलीपीन्स की सांस्कृतिक एवं जातीय उत्पत्ति सम्बन्धी खोजों से पता चलता है कि यह किसी समय दक्षिणी भारत के निवासियों का उपनिवेश था। इस प्रकार इन सभी द्वीपों में भारतीय संस्कृति का प्रभाव मिलता है।

## आधुनिक युग—

वर्तमान काल के आगमन से भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का इतिहास समाप्त नहीं हो जाता है। यद्यपि यवनों के कई शताब्दियों तक राज्य करने से तथा योरोपीय नवीन विचारधाराओ से भारत की प्राचीन संस्कृति को बड़ा आघात पहुँचा परन्तु फिर भी यह एक अनन्त स्रोत है जिसकी पवित्र धारा सदा मनुष्य जाति को प्रोत्साहित करती रहेगी। कुछ समय हुआ दिल्ली की एक अन्तर्एशियाई कान्फ्रेन्स में एशिया के लगभग सभी देशों के प्रतिनिधियों ने एक आवाज में भारत के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसे अपनी संस्कृति एवं सभ्यता की जननी बतलाया।

सन् १६७१ ई० में फ्राँसीसी यात्री बर्नियर (Bernier) दाराशिकोह के उपनिषदों के फारसी अनुवाद की हस्तलिखित प्रति अपने साथ फ्रांस ले गया। इससे योरोप में एक नवीन जागृति उत्पन्न हुई और कई फ्रांसीसी तथा जर्मन विद्वानों ने वैदिक एवं संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित किए। उनमें से एक विद्वान ने संस्कृत की व्याकरण भी लिखी।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत से पाश्चात्य विद्वामों ने संस्कृत साहित्य पर प्रकाश डाला। उनमें से प्रमुख तीन अँग्रेज हैं - सर-चार्ल्स विल्किंस (Wilkins) सर विलियम जोन्स तथा कोलब्रुक (Colebrooke)। विल्किस ने गीता का अनुवाद किया। जोन्स ने बंगाल की एशियाई सोसायटी की स्थापना की तथा शकुंतला आदि कई संस्कृत नाटकों का सम्पादन किया। कोलब्रुक ने भारतीयता के विभिन्न क्षेत्रों पर बहुत कुछ लिखा और पाणिनि की व्याकरण तथा हितोपदेश का सम्पादन किया।

जर्मनी ने सबसे पहले उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में संस्कृत साहित्य के छिपे कोष को खोज निकाला जिससे जर्मन विचारकों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। शूपेनहोर (Schopenhauer) को उपनिषदों में एक नई स्फूर्ति

मिली ।[1] कान्ट (Kant) नामक विद्वान भी उपनिषदों के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए । कालिदास के मेघदूत तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् का पाश्चात्य विद्वानों पर गहरा प्रभाव पड़ा ।

स्वामी विवेकानन्द ने सिंहनाद के साथ सम्पूर्ण संसार के सम्मुख वेदान्त के 'तत्त्वमसि' सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप रखा । उन्होंने अमेरिका तथा योरोप के देशों में जा जाकर भारतीय संस्कृति का वास्तविक रूप लोगों को समझाया । समस्त पाश्चात्य देश उनके पवित्र सन्देश के आगे नतमस्तक हो गए । स्वामी जी का कथन है कि आध्यात्मिकता एवं दर्शन के बल पर भारत फिर सम्पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त कर सकता है ।[2]

फ्रांस के रोमेन रोलैन्ड (Romain Rolland) भारतीय संस्कृति के गहन ज्ञान के लिए प्रसिद्ध हैं । उनकी आधुनिक भारत की दो महान विभूतियों—श्री रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द की प्रशंसा पढ़ने योग्य हैं ।

इसके बाद रवीन्द्रनाथ टैगोर न अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर भारतीय संस्कृति का नाम उज्ज्वल किया । भारत के कवि होते हुए वे संसार के कवि हो गये ।

अन्त में महायोगी श्री अरविन्द घोष ने वह प्रकाश दिखलाया जिससे सम्पूर्ण संसार का अन्धकार दूर हो सकता है ।

इस प्रकार हमारी भारतीय संस्कृति यद्यपि सदियों विदेशी शासकों द्वारा कुचली गई, फिर भी वह तपाए हुए सोने की भाँति उत्तरोत्तर अधिक कान्तिमान होती गई । इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत के प्राचीन लोगों ने केवल विश्व-कल्याण की भावना से ही संस्कृति का प्रचार किया । आजकल की जातियों की भाँति दूसरे देशों में राज्य स्थापित करने की भावना उनमें कभी नहीं रही । यही कारण है कि भारतीय प्राचीन संस्कृति इतनी व्याप्त होते हुए भी हिन्दुओं का शासन विदेशों में नहीं था ।

---

1. 'In the whole world there is no study so beneficial and so elevating as that of the upanishads. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death.'

2. 'Once more the world must be Couquered by India. this is the dream of my life......We must go out, we must conquer the world through our spirituality and philosophy. There is no alternative. We must do or die.'

# गुप्त-कालीन भारत

भारतीय इतिहास में गुप्तकाल 'स्वर्णयुग' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उस समय समस्त देश में शान्ति का साम्राज्य था। राजा लोग साहित्य के प्रेमी थे और साहित्यकों एवं विद्वानों को सम्मान देते थे। समस्त जनता सुरक्षित तथा धन धान्य पूर्ण थी और सब एकता के दृढ़ सूत्र में आबद्ध थे। गुप्तवंशीय राजा विज्ञान तथा कला के विशेष प्रेमी थे और उन लोगों नें इसके विकास के लिये भगीरथ प्रयत्न किया। ये लोग धर्म का हृदय से आदर करते थे। ब्राह्मण, जैन एवं बौद्ध धर्मों ने इस युग में अत्यन्त उन्नति की और इन सबकी उन्नति उस समृद्धशाली युग में स्वाभाविक ही थी।

**अध्ययन के साधन—**

गुप्तकालीन राजाओं की दशा एवं तत्कालीन परिस्थिति को जानन के चार मुख्य साधन हैं—

**१—साहित्यिक साधन—**

इसके अन्तर्गत हम कालिदास के काव्यों एवं विशाखदत्त के 'देवीचन्द्र गुप्त' (जिसके केवल कुछ प्रतीक नाट्य-दर्पण में उल्लिखित हैं) तथा विज्जिका के 'कौमुदी महोत्सव' आदि से तत्कालीन भारत के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। कालिदास ने 'मघदूत' में मेघ की यात्रा के वर्णन में, 'रघुवंश' महाकाव्य में रघु की दिग्विजय तथा राम की लंका से अयोध्या तक की यात्रा के अन्तर्गत तत्कालीन भारत की भौगोलिक परिस्थिति को व्यक्त किया है। 'रघुवंश' में, भारत के पश्चिमोत्तर में स्थिति जिस हूण जाति का वर्णन कालिदास ने किया है, वह सम्भवत: इसी समय की हूण जाति थी, जिसके आक्रमण गुप्त-राजाओं के उत्कर्ष काल के समय से ही प्रारम्भ हो गए थे। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल के राजाओं का पराक्रम, उदारता एवं प्रजापालन की

भावना, रघुवंश में वर्णित सूर्यवंशी राजाओं के उज्वल चरित्र से साम्य रखती है। फाहियान ने उस समय के भारत की परिस्थित का जो बर्णन लिखा है वह रघुवंश के राजाओं के शासन काल से समानता रखता है। विशारवदत्त रचित देवीचन्द्रगुप्तम् गुप्त काल के राजनैतिक इतिहास के लिये उपयोगी है। विज्जिका का 'कौमुदी महोत्सव' तथा बौद्ध ग्रन्थ आर्य्यमञ्जु श्रीमूलकल्प में भी तत्कालीन भारत की झलक मिलती है। बाण का हर्ष-चरितम् यद्यपि अर्वाचीन है तथापि गुप्तकालीन संस्कृति के अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी है।

२—शिलालेख—

शिलालेखों द्वारा भी हमें इस कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। इन शिलालेखों में बिहार के पाषाण स्तम्भ के शिलालेख सर्व प्रसिद्ध हैं इन्हें स्कन्दगुप्त ने बनवाया था। ये स्कन्दगुप्त के शासन काल पर प्रकाश डालते हैं। दूसरे भिलसड़ के शिलालेख हैं जिनमें राजा कुमारगुप्त की दानशीलता और उदारता का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त भिटारी के शिलालेखों से हमें उस समय की राजनैतिक परिस्थिति के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है और इसमें वैष्णव धर्म का भी उल्लेख है। इलाहाबाद की स्तम्भलिपि उदयगिरि की गुहा में प्राप्त लिपि तथा मैन्डसोर की लिपि गुप्तकाल के साहित्यिक सामाजिक तथा राजनैतिक अध्ययन के लिए मुख्य साधन हैं।

३—सिक्के—

उस समय के कुछ सिक्के प्राप्त होते हैं जिनसे राजनैतिक एवं सामाजिक दशा का पता चलता है। समुद्रगुप्त ने सुवर्ण के ही सिक्के चलाये थे जिनसे देश का ऐश्वर्य सहजानुमेय है। चन्द्रगुप्त तथा कुमार गुप्त ने कुछ विशेष कारणों से चाँदी तथा ताम्बे के भी सिक्के चलाये थे। कुमार गुप्त के समय में प्रचलित सिक्कों द्वारा उनके ऐश्वर्य का ज्ञान होता है। उन सिक्कों पर लिखी हुई संस्कृत भाषा भी उस समय की भाषा की समृद्धि की द्योतक है।

४—विदेशियों के मत—

उस समय भारत में सम्भवतः अनेक विदेशी यात्री आए जिनके

वर्णन यदि उपलब्ध हों तो उनके द्वारा हम उस समय की स्थिति जान सकते हैं। इनमें केवल फाहियोन की ही कृति आज प्राप्त है। ह्वेन च्वाङ्ग तथा इत्सिङ्ग जो इस काल के बाद आये हैं उनके वर्णन से भी हमें बहुत सहायता मिलती है।

## उत्पत्ति तथा प्रमुख राजा—

गुप्तवंश की उत्पत्ति अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। शातवाहन के शिलालेखों में गुप्त नाम के अनेक राजाओं के नाम तो प्राप्त होते हैं, किन्तु यह राजा लोग गुप्त वंश के ही हैं, इसका कोई भी प्रमाण नहीं है। कुछ शिलालेखों में 'धारणसगोत्रा' शब्द मिलता है, जिससे चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता के गोत्र का पता लगता है, क्योंकि इसका प्रसंग धारणगोत्र से है और इसका सम्बन्ध अग्निमित्र की पत्नी धारणीय से है। किन्तु अन्य विद्वानों के मत द्वारा बाद में यह पता लगा कि प्रभावती का गोत्र उसके पति के गोत्र से भिन्न था, जो वाकाटक वंश का और विष्णुवृद्धि गोत्र का था। बेलसर तथा भिटारी के शिलालेखों में गुप्त वंशीय राजाओं की वंशावली अंकित है किन्तु दोनों ही में गुप्तकालीन राजा स्कन्दगुप्त का नाम नहीं है। अतः इनकी उत्पत्ति के विषय में कोई भी निश्चित प्रमाण नहीं है।

बेलसर तथा भिटारी दोनों ही शिलालेखों में अंकित वंशावली से विदित होता है कि इस वंश के सर्वप्रथम राजा महाराज श्रीगुप्त थे। तत्पश्चात् श्री घटोकचगुप्त राजा हुए। उनकी मृत्यु के बाद महाराजाधिराज चंद्रगुप्त गद्दी पर बैठे। इनकी रानी का नाम कुमार देवी था। इनके बाद समुद्रगुप्त गद्दी पर बैठे इन्होंने दत्ता देवी से विवाह किया। कुमार गुप्त इस वंशावली के अनुसार अंतिम राजा था।

## साहित्य—

गुप्त कालीन समस्त साहित्य धार्मिक दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ब्राह्मण साहित्य (२) बौद्ध साहित्य (६) जैन साहित्य।

## ब्राह्मण साहित्य—

ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत अनेक महाकाव्यों और नाटकों की रचना

हुई। संस्कृत के कविकुल-शिरोमणि कालिदास, हरिषेण, नाटककार शूद्रक, विशाखदत्त आदि इसी युग में हुए और इन सबने अपनी रचना द्वारा तत्कालीन साहित्य की श्रीवृद्धि में महान सहयोग दिया। **गुप्त वंश के सम्राट विक्रमादित्य** कवियों को अपने दर्बार में सम्मान पूर्वक आश्रय देते थे। उनकी सभा में ९ प्रसिद्ध कवि थे जो 'नवरत्न' के नाम से विख्यात थे। इनमें कालिदास सर्वश्रेष्ठ थे।

### कालिदास—

इनकी अपूर्व प्रतिभा द्वारा जिस साहित्य का सृजन हुआ वह न केवल भारत की अपितु समस्त विश्व की अक्षुण्ण विभूति है। कालिदास के काव्यों में रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत और ऋतुसंहार, ये चार सर्वश्रेष्ठ हैं। नाटक के क्षेत्र में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की रचना कर कालिदास ने संस्कृत साहित्य भंडार को चमत्कृत कर दिया। उनका केवल भारतीयों ने ही नहीं वरन् जर्मनी के कवि गेटे ने भी हृदय से आदर किया। इस प्रकार इस वरद-पुत्र की अपूर्व काव्यकला एवं अलौकिक नाट्यकला की प्रशंसा सम्पूर्ण विश्व ने की।

### हरिषेण—

ये सम्राट समुद्रगुप्त के समय में हुए थे। इनकी भी काव्यकला कालिदास के टक्कर की ही थी। इनका कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इलाहाबाद के अशोक के स्तम्भ पर जो समुद्रगुप्त की प्रशस्ति है वह एक खण्डकाव्य से उद्धृत है और उसी के ये रचयिता कहे जाते हैं।

### विष्णुशर्मा -

कुछ विद्वानों का कथन है कि ये चाणक्य के समय में हुए थे किन्तु आजकल के विद्वान इन्हें गुप्तकालीन मानते हैं। इन्होंने 'पंचतंत्र' की रचना की जो संस्कृत कथासाहित्य की अमूल्य निधि है। इस ग्रन्थ में राजनीति एवं व्यावहारिक मूल सिद्धान्तो का प्रतिपादन कला के रूप में हुआ है, जो अल्पवयस्को के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है।

### विशाखदत्त—

संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' के रचयिता विशाखदत्त हैं।

यह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे। इन्होंने मुद्राराक्षस में जिस प्रकार चाणक्य ने राजनीति की कुटिल चालों तथा कूटनीति के दाँव पेंचों द्वारा नंद वंश का नाश कर चंद्रगुप्त मौर्य को गद्दी पर आसीन किया, उसका सजीव चित्रण किया है। यह संस्कृत का एक अनूठा एवं बेजोड़ नाटक है। 'मुद्राराक्षस' के अतिरिक्त विशाखदत्त ने 'देवीचंद्रगुप्तम्' नाटक की भी रचना की जिसमें केवल प्रक्षिप्त अंश उपलब्ध हैं।

शूद्रक—

इन्होंने मृच्छकटिक की रचना भास के 'चारुदत्त' के आधार पर की। इसे पढ़कर तत्कालीन सामाजिक स्थिति का परिचय प्राप्त होता है।

भर्तृमेण्ठ—

ये काश्मीर के राजा मातृगुप्त के आश्रित कवि थे। इनकी 'हयग्रीव-वध' नाम की रचना अभी तक उपलब्ध नहीं। यही इनकी एकमात्र कृति थी। राजतरंगिणी के लेखक कल्हण का कथन था कि ये अत्यन्त सरस कविता करते थे।

दर्शन—

साहित्य के अतिरिक्त विज्ञान की भी इस युग में अत्यधिक उन्नति हुई। दर्शन, ज्योतिष एवं गणित विद्या के कुछ प्रधान आचार्य भी गुप्तकाल में हुए, जिन्होंने अपनी रचना द्वारा जनता में धार्मिक भावनाओं का प्रचार कर उसे ज्ञान प्रदान किया। दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ईश्वरकृष्ण तथा सांख्य-दर्शन के प्रमुख आचार्य विन्ध्यवासी इसी समय में हुए। ईश्वरकृष्ण ने अपनी 'सांख्यकारिका' तथा माठराचार्य ने 'माठरवृत्ति' की रचना की। न्याय के सुप्रसिद्ध भाष्यकार पक्षिलस्वामी जो वात्स्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुए, इसी समय में हुए और उन्होंने न्यायभाष्य 'ब्राह्मण-न्याय' की रचना की। दर्शनाचार्य उद्योतकर ने न्याय वार्तिक की रचना कर 'ब्राह्मणन्याय' की मान मर्यादा की सुरक्षा की। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद के मूलसूत्रों पर प्रशस्तपाद ने 'भाष्य-पदार्थ-संग्रह' लिखा। शबर स्वामी ने 'शबर भाष्य' की रचना की, जो पूर्णतया पूर्वमीमांसा पर आधारित था। इन्हीं सूत्रों पर प्रभाकर मुरारि मिश्र, तथा कुमारिल भट्ट आदि ने नवीन व्याख्याओं द्वारा तीन नवीन सम्प्रदायों को जन्म दिया।

### विज्ञान—

#### ज्योतिष और गणित—

दर्शन के अतिरिक्त ज्योतिष तथा गणित के विषयों पर भी विद्वानों ने अनेक रचनायें कीं जिसके फलस्वरूप बहुत से नवीन तथ्यों का प्रचार हुआ। ज्योतिष शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान आर्यभट्ट ( ४७६ ई० पू० ) इसी समय में हुए। इन्होंने ही सर्वप्रथम ज्योतिष तथा नक्षत्रविद्या के घनिष्ट संबन्ध को लोगों के समक्ष रखा और इससे यह सिद्धांत खोज निकाला कि पृथ्वी गोल है, वह सदैव सूर्य के चारो ओर घूमा करती है। ग्रहण की कल्पना निर्मूल है, उसमें राहु का कोई अस्तित्व नहीं। ग्रहण चन्द्र तथा पृथ्वी की छाया का फल है। इसी ज्योतिष विद्या से सम्बन्धित 'आर्यभट्टीय' की रचना की, जो ज्योतिष का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। ज्योतिष तथा गणित के वेत्ता आचार्य वराहमिहिर भी गुप्त काल में ही हुए। इनके विषय में प्राचीन विद्वानों का मत है कि यह चंद्रगुप्त द्वितीय की राजसभा के नवरत्नों में से हैं। वराहमिहिर ने एक स्थान पर लिखा है—"यवन लोग म्लेच्छ हैं, पर उन्हें शास्त्र का ज्ञान है, इसी कारण वे ऋषियों के समान पूज जाते हैं।" इनके ग्रन्थों में 'पंचसिद्धान्तिका' और 'वृहत्संहिता' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'वृहत्संहिता' में ऋतु-परिवर्तन, सूर्य तथा चंद्र ग्रहण, नक्षत्रों की गति इन रहस्य पूर्ण विषयों पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त 'लघुजातक' और 'वृहज्जातक' आदि ग्रंथों की भी इन्होंने रचना की।

इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, राजनीति एवं कामशास्त्र से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों की रचना गुप्त काल में हुई। यद्यपि मनुस्मृति की रचना तो गुप्त काल के पूर्व ही हो चुकी थी किन्तु नारद तथा वृहस्पति स्मृतियों की रचना तो इसी युग में हुई। इन लोगों के तथा मनु के विचारों में अत्यधिक साम्य था। इसीलिये वृहस्पति को मनु का वृत्तिकार कहा गया। वायु पुराण की रचना इसी समय हुई और अन्य पुराणों को ठीक कर उन्हें परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया गया क्योंकि इनमें गुप्तकालीन राजाओं के विषय में भी उल्लेख है कि वे गंगा के तटवर्ती प्रदेश, प्रयाग, साकेत तथा मगध में शासन करते थे। इसके अतिरिक्त कामन्द ने 'नीतिसार' और वात्स्यायन ने कामसूत्रों की रचना की।

#### बौद्ध साहित्य—

बौद्ध साहित्य के अन्तगत गुप्त युग में बहुत सी रचनायें हुईं। इस

समय में बौद्ध धर्म के दो सम्प्रदाय थे—हीनयान तथा महायान । दोनों सम्प्रदायों में ग्रन्थों की रचना हुई । महात्मा बुद्ध ने हीनयान शाखा के ही मूल सिद्धान्तों का जनता में प्रचार किया था । इस सम्प्रदाय के समस्त धर्म-ग्रंथ पाली भाषा में थे जो चौथी शताब्दी के पूर्व ही लिखे जा चुके थे । गुप्त युग के आचार्यों ने उन पर अनेक टीकाएँ एवं व्याख्यायें लिखीं । इन आचार्यों में बुद्धघोष और चंद्रगोमिन का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है । आचार्य बुद्धघोष ने सिंहली भाषा में लिखी हुई अट्टकथाओं का पाली में अनुवाद किया । इसकी रचना करने में उन्हें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । वे सिंहल में जाकर अनुराधपुर के महाविहार में रहे । वहीं इन्होंने इसकी रचना की । इसके अतिरिक्त विशुद्धिमग्ग, सुमंगलविलासिनी, पपंचसूदनी आदि की भी रचना की । इनका समय पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में निर्धारित किया गया है ।

आचार्य चंद्रगोमिन ने "शिष्यलेख-धर्म काव्य" की तथा एक नाटक 'लोकानन्द' की रचना की । शिष्यलेख-धर्म-काव्य में इन्होंने बौद्ध सिद्धान्तों का उल्लेख सरस पदावली में किया है । इनका 'चंद्रव्याकरण' सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है तथा पाणिनि के व्याकरण के टक्कर का है । काशिकाकार ने पाणिनि के व्याकरण के अनेक असिद्ध सूत्रों को इनके सूत्रों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है ।

वैभाषिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत विभाषा दर्शन के प्रसिद्ध ग्रंथ 'समय-प्रदीपिका' की रचना संघभद्र ने की । ये समुद्रगुप्त के समकालीन थे ।

बौद्ध धर्म की दूसरी शाखा महायान के अन्तर्गत दो सम्प्रदाय थे—माध्यमिक और योगाचार । प्रथम सम्प्रदाय में बुद्धपालित, भावविवेक तथा चंद्रकीर्ति का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है । इन्होंने नागार्जुन की 'माध्यमिक-कारिका पर टीकायें रचीं । इन टीकाओं में माध्यमिकों द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद के सिद्धान्त को पुष्ट किदा गया है ।

योगाचार सम्प्रदाय वाले यौगिक क्रियाओं को अधिक महत्व देते थे । इसी प्रकार इसका नाम योगाचार पड़ा । योगाचार के अन्तर्गत ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का समावेश है । इसके मूल सिद्धान्तों का मैत्रेय के विभाग में पूर्णरूप से विवेचन है । आर्य मैत्रेय के बाद वसुबन्धु, दिङ्नाग, असंग आदि ने इन्हीं सिद्धान्तों को विकसित रूप प्रदान किया । वसुबन्धु का 'अभिधर्मकोश' अत्यंत प्रसिद्ध है । यह बौद्ध धर्म के सब सम्प्रदायों द्वारा मान्य है । इसके अतिरिक्त वसुबन्धु ने सद्धर्मपुण्डरीक,

महापरिनिर्वाणसूत्र, वज्रछेदिका, प्रज्ञा-परिमिता आदि टीकाओं की भी रचना की।

वसुबन्धु के प्रसिद्ध एवं योग्य शिष्य दिङ्नाग थे। इनकी तर्कशक्ति अलौकिक थी। ये सुप्रसिद्ध दार्शनिक थे तथा इन्होंने ही बौद्ध न्याय को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। इनका न्याय शास्त्र संबंधी 'प्रमाण समुच्चय' ग्रंथ अत्यन्त प्रसिद्ध है।

### जैन साहित्य—

गुप्तकाल में जैन साहित्य ने भी अधिक उन्नति की। जैन आगमों की संख्या इसी युग में निश्चित हुई तथा अनेक सभाओं के आयोजन द्वारा जैन तीर्थङ्करों ने इन्हें सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। जैन न्यायशास्त्र के सिद्धान्त गुप्तकाल के पूर्व इधर उधर बिखरे हुए मिलते थे किन्तु इस समय के जैन तीर्थङ्करों ने उन्हें क्रमबद्ध कर स्वतंत्र ग्रंथ बना दिया। इस न्याय के प्रवर्तक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर थे। इन्होंने 'न्यायावतार' की रचना की। इसके अतिरिक्त आचार्य देवनन्दि ने 'जैनेन्द्र व्याकरण' 'नामक ग्रंथ की रचना की जो अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये गुप्तकाल के सुप्रसिद्ध जैन विद्वान थे। इनका 'जैनेन्द्र व्याकरण' पाणिनि तथा चंद्रगोमिन के व्याकरण ग्रन्थों की भाँति अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है।

### सामाजिक जीवन—

गुप्त युग वास्तव में शान्ति युग था। चारों ओर सुख तथा शान्ति का साम्राज्य था। समाज में एकता थी। इसी युग में बौद्ध धर्म का मतावलम्बी फाहियान नामक चीनी यात्री भगवान बुद्ध की जन्मभूमि के दर्शन करने के लिए भारत में आया। उसने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। वह मगध से चंपा होता हुआ ताम्रलिप्ति गया। वहाँ से जहाज द्वारा सिंहल जाकर, जावा होता हुआ चीन चला गया। उसने तत्कालीन भारत की सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक दशा का सुन्दर चित्रण किया। उसने लिखा है कि भारत सब देशों में एक सभ्य देश है। यहाँ के व्यक्ति सच्चरित्र, धन-धान्य पूर्ण एवं सदाचारी हैं। व्यक्ति मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करते और न प्याज, लहसुन ही खाते हैं। सुअर तथा मुर्गियों को चाण्डाल ही पालते हैं। पशु हिंसा नहीं होती। देश में बूचड़खाने नहीं हैं। लोगों को मृत्यु दण्ड

नहीं दिया जाता। अपराध बहुत कम होते हैं। चोर डाकू देश में नहीं हैं।

जब वह पाटलिपुत्र गया तो उसने वहाँ के विषय में लिखा कि वहाँ के व्यक्तियों में एकता है। वे एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या नहीं करते। यहाँ रथ उत्सव मनाया जाता है, जो प्रतिवर्ष दूसरे मास या प्रति सप्ताह बाद होता है। वैश्य जन-कल्याण के लिये दानगृह बनवाते हैं, जिनमें देश के समस्त रोगी, विकलांग व्यक्ति, अनाथ तथा विधवाओं को आश्रय दिया जाता है और धन से भी उनकी सहायता की जाती है। चिकित्सा तथा भोजन का प्रबन्ध मुफ्त होता है। स्वस्थ होने पर वे स्वयं ही चले जाते हैं। देश में बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रचार है। लोग बौद्ध धर्म का हृदय से आदर करते हैं। कपिल-वस्तु, मगध तथा कुशीनगर को छोड़ कर अन्य नगरों में भी बौद्ध विहार बने हुए हैं।

इस प्रकार फाहियान के वर्णन से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि समस्त गुप्तकालीन राजा आदर्श, प्रजापालक, उदार, सुशिक्षित एवं गुणज्ञ थे। उनके समय में प्रजा बहुत सुखी थी। देश की आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति भी सुव्यवस्थित थी।

## कला—

गुप्तकाल में कला का भी काफी विकास हुआ। कुशाण काल में भारतीय कला के मूल स्रोत गान्धार तथा मथुरा थे। अतः वहाँ पर जो मूर्ति-निर्माण-कला विकसित हुई वह गान्धारी शैली कहलाई। किन्तु गुप्त काल में भारतीय कला के मुख्य केन्द्र सारनाथ तथा नालन्द थे। इन स्थानों में अनेक सुन्दर प्रतिमाओं तथा मूर्तियों का निर्माण गुप्त काल में हुआ, जिनमें से कुछ तो आज भी अपनी उसी अपूर्व दशा में स्थित हुई उस समय की कला की सर्वोत्कृष्टता की ओर संकेत कर रही हैं। गुप्तकाल की अन्य सुन्दर मूर्तियों में उदयगिरि की वराह मूर्ति और भिलसा की गंगा की मूर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके निर्माण में जो एक महान विशेषता है वह है उनमें अंकित तेज। प्रत्येक मूर्ति सजीव एवं प्राणधारी प्रतीत होती है और इस प्रकार से बनाई गई है मानों उसके मुख से प्रखर किरणों का तेज-पुञ्ज टपक रहा हो।

गुप्त काल में ऊँचे नोकीले शिखर वाले वैष्णव मंदिरों का भी

**बहुतायत से निर्माण हुआ।** कानपुर जिले में भीतरगाँव नामक स्थान का मंदिर तथा झांसी के देवगढ़ जिले का मंदिर विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इस समय भवन निर्माण में लम्बी एवं पतली ईटों का प्रयोग होता था और बाहरी भुजा के लिये प्रतिमाओं से अंकित विशेष प्रकार की मिट्टी की बनी हुई तख्तियों का प्रयोग होता था।

इसके अतिरिक्त अजन्ता तथा एलोरा आदि गुफाओं के अनेक गुहा मंदिरों का निर्माण सम्भवतः इसी समय में हुआ जो चित्र कला, शिल्पकला एवं वास्तु कला की दृष्टि से विश्व की अनुपम विभूति हैं। इनकी यह महान विशेषता है कि पहाड़ को ही काट काट कर अन्दर ही अन्दर इसमें मूर्तियाँ तथा चित्र आदि अंकित किए गए जो वास्तव में सराहनीय हैं और इन्हीं के कारण भारतीय कला सदैव उन्नतभाल बनी रहेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तव में गुप्तकालीन भारत समृद्धशाली, धन धान्य पूर्ण, कला पूर्ण एवं विज्ञान पूर्ण भारत था और इस गुप्तकालीन युग पर भारत तथा भारतीयों को सदैव गर्व रहेगा। अतः यदि गुप्त-काल के राजाओं के राज्य को राम राज्य के नाम से विभूषित किया जाय तो सर्वथा उपयुक्त होगा।

# राजपूत काल

उत्पत्ति—

राजपूत जाति का आविर्भाव कब तथा किस समय में हुआ यह निश्चित नहीं है। इसी कारण इस जाति की उत्पत्ति तथा अभ्युदय के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत प्रचलित हैं। टाड, स्मिथ, भण्डारकर, विलियम क्रुक आदि इतिहासवेत्ता इन्हें विदेशी मानते हैं और इनको कुशाण एवं हूण जातियों के वंशज बताते हैं। इसका कारण यह है कि उनके जीवन तथा समाज का विदेशियों के जीवन से अधिक साम्य है। किंतु इसके विपरीत पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा इन्हें भारतीय ही मानते हैं और इनको प्राचीन क्षत्रिय जाति की नस्ल का बताते हैं। ओझाजी के अनुसार राजपूतों का वंश विदेशियों के आने के बहुत पहले से भारत में स्थित था। इसके अतिरिक्त इनमें जो सूर्य देव की उपासना, शस्त्रपूजा, अश्वाराधना, अश्वमेध यज्ञ एवं सती आदि की प्रथायें प्रचलित थीं वह अत्यन्त प्राचीन प्रथायें हैं जो विदेशियों के भारत में आने के पूर्व से ही विद्यमान थीं।

इसके अतिरिक्त परमार, प्रतिहार, चौहान तथा चालुक्य जातियाँ जो इसी राजपूत जाति के अन्तर्गत थीं, उनकी उत्पत्ति के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उनकी उत्पत्ति अग्निकुण्ड से हुई है। इस मत से भी इन राजवंशों के विदेशी न होने का प्रमाण कुछ अंश तक मिलता है। कुछ भी हो किंतु इतना तो अवश्य ही कहना पड़ेगा कि इन राजवंशों के जन्म के समय इनमें विदेशी अंश का अभाव था तथा वे हिंदू धर्म एवं संस्कृति पूर्णरूप से स्वीकार कर भारतीय संस्कृति की छत्र छाया में ही पल रहे थे। शनैः-शनैः इन राजवंशों की संख्या भारतवर्ष में उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और इनका भारत में अत्यधिक प्रसार होता गया। इस वंश में अनेक ऐसे प्रतिभाशाली राजा हुए जिन्होंने हिंदू धर्म की उन्नति में पूर्णरूप से सहयोग दिया और भारतवर्ष

में एकता स्थापित करने की पूर्णरूप से चेष्टा की। इस महत्वशाली उद्दश्य की पूर्ति में उन्हें कुछ अंश तक सफलता भी मिली।

राजनैतिक परिस्थिति—

गुप्त काल का शासनकाल स्वर्णिम युग कहा जाता है। गुप्त राजाओं ने भारत में अपना विशाल राज्य स्थापित कर भारत को एकता के सूत्र में बाँध दिया। इनके राज्य काल में प्रजा पूर्णतया सन्तुष्ट थी किंतु इसी समय से भारत में हूण जाति के आक्रमण प्रारम्भ हो गये। स्कन्दगुप्त और चंद्रगुप्त आदि प्रतिभाशाली र जाओं ने उन्हें रोकने के लिये बहुत प्रयत्न किया। तत्पश्चात हूणों के आक्रमण बंद हो गए। किन्तु अभाग्यवश गुप्तवंश की राजश्री समाप्त हो जाने के पश्चात पुनः हूण भारत पर छापा मारने लगे। इस समय के वीर यशोवर्मा तथा यशस्वी प्रभाकरवर्धन आदि ने उन्हें परास्त कर उनके बढ़ते हुए साहस का कुछ अंश तक अंत कर दिया, जिसके फलस्वरूप हूण जाति का भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न अधूरा रह गया। परन्तु इन जातियों के बार-बार के आक्रमणों ने भारत की राजनैतिक शांति को नष्ट कर दिया। मगध का विशाल तथा अविच्छिन्न साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर टुकड़ों-टुकड़ों में परिणत हो गया। उसके अन्तर्गत अनेक राज्य हो गए जिनके शासक राजपूत कहलाये। महाराज हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कोई भी इतना प्रतिभाशाली शासक न हुआ जो पुनः अपने हस्तलाघव से इनमें एकता स्थापित करता। अतः आठवीं शताब्दी से लेकर ११ वीं शताब्दी तक भारत की यही दशा रही।

राजपूतों के अन्तर्गत अनेक जातियाँ तथा कुल थे जिनमें परमार, चालुक्य, गुर्जर-प्रतिहार, चौहान, चन्देल, कल्चूरी, सेन एवं पाल वंश विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं जो क्रमशः मालवा, गुजरात, उज्जयिनी, अजमेर, महोबा, चेदि, बंगाल तथा बिहार के रहने वाले थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण में भी कुछ राजवंश थ यथा देवगिरि के यादव, काँची के पल्लव, मलखेड़ के राष्ट्रकूट, मालाबार के चेर आदि वंश। ये समस्त परिवार अपनी अपनी राजसत्ता एक दूसरे पर स्थापित करने के लिये परस्पर युद्ध किया करते थे। इस प्रकार उस समय देश में फूट का साम्राज्य था। यद्यपि यह अत्यन्त पराक्रमशाली थे और वीरता उनमें कूट कूट कर भरी थी; किन्तु वह वीरता उनकी सार्वभौमिक न होकर व्यक्तित्व की संकुचित भित्तियों में सीमित

रही। इसी कारण यह जाति भारत में पूर्ण साम्राज्य स्थापित करने में असमर्थ रही और उनका शीघ्र की पतन हो गया।

### सामाजिक परिस्थिति—

राजपूत काल में अनेक राज्यों के स्थापित हो जाने से देश में अशान्ति थी। समस्त राजागण अपना अपना अस्तित्व एक दूसरे पर स्थापित करना चाहते थे। अतः उस समय युद्ध का आधिक्य था। वीर होने के कारण राजपूत अपना अपमान सहन न कर सकते थे। उनमें आत्म-गौरव की भावना ज्वलन्त रूप में विद्यमान थी। युद्ध करना इनका परम धर्म था और अस्त्र ही इनका एक मात्र अवलम्ब था। ये लोग केवल अपने खड्ग पर विश्वास करते थे। उसके समक्ष संसार की समस्त वस्तुयें तुच्छ थीं। युद्ध में जाते समय अश्वादि का तिलकादि काढ़ कर सम्मान किया जाता था। अतः समाज में अश्व पूजा एवं खड्ग पूजा प्रचलित थी। वीर गति पर इनका अटल विश्वास था, ये उसी के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति मानते थे।

स्त्रियों के लिये जौहर व्रत तथा सती आदि की प्रथायें प्रचलित थीं। अपने पतियों को युद्ध में हँसते हँसते हर्ष पूर्वक भेज देना, तत्पश्चात जौहर व्रत धारण करना ही उनका एक मात्र आदर्शपूर्ण उद्देश्य था। पुरुषों की ही भाँति स्त्रियों में भी आत्मगौरव की भावना कम नहीं थीं। वे भी अत्यन्त वीर होती थीं और समय पड़ने पर रक्षा हेतु वीरता से युद्ध कर शत्रुओं के दाँत खट्टे कर देना ही अपना परम कर्तव्य समझती थीं। राजपूत दृढ़ प्रतिज्ञ थे और अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये अनेक कठिन क्लेशों का सामना करने के लिये उद्यत रहते थे। राजपूत लोग मांस आदि का खूब प्रयोग करते थे।

### धार्मिक परिस्थिति—

राजपूत काल क्रान्तिकारी तथा वीरतापूर्ण युग था। अतः इस समय समाज में पौराणिक धर्म की भावना पुनः विस्तृत होने लगी। जैन तथा बौद्ध धर्मों का पतन होने लगा, क्योंकि अहिंसापूर्ण बौद्ध और जैन धर्म इन वीर जातियों के लिए घातक थे। उन्हें बुद्ध के शान्तिपूर्ण सिद्धान्त से कोई मतलब न था। वे क्रान्तिपूर्ण सिद्धान्त चाहते थे जिससे वे स्फूर्ति और गति

ग्रहण करते। इसी कारण ब्राह्मण धर्म ने पुनः उन्नति की और वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। किन्तु इसके अन्तर्गत अनेक सम्प्रदायों का समावेश हो गया। शैव धर्म में पाशुपत तथा कापालिक सम्प्रदाय की शक्ति बढ़ने लगी। ये दोनों सिद्धियों में विश्वास करते थे। इस समय शक्ति सम्प्रदाय ने भी अपनी शक्ति वृद्धि करनी प्रारम्भ कर दी। इन लोगों ने आनन्द भैरवी, महाकाली आदि देवियों की उपासना पर विशेष रूप से बल दिया और वाम मार्ग का भी प्रचार किया।

वैष्णव एवं भागवत धर्म में भी आडम्बर की भावना बढ़न लगी। जिसके फलस्वरूप उपासना क्षेत्र में अधिक जटिलता आ गई। उपासना के हेतु प्रतिमाओं की तथा मन्दिरों की स्थापना इस समय में होने लगी थी। प्रभु की प्रतिमा को स्थापित कर उनमें मानवीय भावनाओं का आरोपण किया जाता था। उपासना के लिए संगीत, नृत्य आदि का भी ईश्वर के सम्मुख प्रयोग होता था, जिसके मूल में ईश्वर को प्रसन्न करने की भावना निहित थी।

शनैः शनैः समाज में देवदासी तथा नरमेध की कुप्रथा ने प्रवेश किया जिससे समाज में भ्रष्टाचार फैल गया। इसका सजीव चित्र हमें कविवर क्षेमेन्द्र की 'समयमातृका' नामक रचना एवं दामोदरगुप्त रचित 'कुट्टिनी-मतम्' में प्राप्त होता है। इस समय समाज की भ्रष्टता के कारण नैतिकता का बाँध शिथिल पड़ रहा था, किंतु फिर भी लोगों में सदाचार की भावना विद्यमान थी। वेश्यावृत्ति घृणा की दृष्टि से देखी जाती थी।

इसी समय कुछ महापुरुषों का जन्म हुआ जिन्होंने इन पतित होते हुए व्यक्तियों को गति एवं स्फूर्ति प्रदान कर समाज के स्वरूप को परिवर्तित कर दिया। इनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा निम्बार्काचार्य का नाम अधिक प्रसिद्ध है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद और रामानुज, निम्बार्का-चार्य तथा मध्वाचार्य आदि के भक्तिवाद से जनता अत्यधिक आकृष्ट हुई। उसके ज्ञान चक्षु खुल गए और उसे स्वधर्म का ज्ञान हो गया।

### साहित्य—

राजपूत काल में साहित्य की भी अधिक उन्नति हुई। यद्यपि यह युद्ध का समय था किन्तु समाज में शान्ति का अभाव होने पर भी लोगों का साहित्य के प्रति अत्यन्त प्रेम था। राजपूत राजा विद्वानों का आदर करते

थे तथा उनमें से बहुत से राजा तो स्वयं भी योग्य थे, जिनमें भोज महेन्द्र-वर्मा और अमोघवर्मा के नाम विशेषरूप से सराहनीय हैं। संस्कृत के बाण-भट्ट, माघ, कविराज, क्षेमेन्द्र, अमरु, भर्तृहरि, भवभूति, राजशेखर तथा जयदेव आदि श्रेष्ठ कवि, नाटककार एवं नीतिकार इसी काल में हुए, और अपनी रचनाओं द्वारा इन्होंने साहित्य का क्षेत्र विस्तृत कर समाज का कल्याण किया।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलता है कि संस्कृत साहित्य के अनेक प्रसिद्ध महाकाव्य, नाटक, अलंकार ग्रंथ, नीति ग्रंथ एवं दर्शन ग्रंथ इसी समय में रचे गये। बाणभट्ट ने हर्ष के दर्बार में रहकर अपने गद्य काव्य 'कादम्बरी' की रचना की। तत्पश्चात 'कविताकामिनी' एवं 'हर्षचरित' की रचना की। इसमें इन्होंने महाराज हर्षवर्धन के जीवन चरित्र का वर्णन किया है। कविवर माघ ने १६ सर्गों में अपने महाकाव्य 'शिशुपाल वध' की रचना की जो पदलालित्य एवं अर्थगौरव के लिये प्रख्यात है। कविराज ने रामायण तथा महाभारत की कथा का एक ही ग्रन्थ में वर्णन कर 'राघव-पाण्डवीय' का निर्माण किया। काश्मीर निवासी कवि क्षेमेन्द्र ने रामायण मंजरी, भारतमंजरी, वृहत्कथा, समयमातृका, कवित्वशिक्षा, औचित्य-विचार-चर्चा आदि ग्रंथों का सृजन किया। 'समयमातृका' में तत्कालीन समाज का तथा 'औचित्यविचारचर्चा' में काव्य तथा जीवन में औचित्य का क्या महत्व है, इसका वर्णन है। क्षेमेन्द्र कवि की समस्त कृतियाँ जनता के लिये हितकारी सिद्ध हुईं।

इसके अतिरिक्त भर्तृहरि ने श्रृंगार, वैराग्य एवं नीतिपूर्ण कविताओं को रचा जो श्रृंगारशतक, वैराग्यशतक तथा नीतिशतक नाम से प्रसिद्ध है। वंग कोकिल जयदेव का 'गीतगोविन्द' भी इस समय की सरस और सुन्दर रचना है। इन कवियों के साथ ही साथ मयूर ने सूर्यशतक, कुमारदास ने जानकीहरण, भट्टि ने रावणबध, रत्नाकर ने हरिविजय आदि ग्रंथों की रचना की।

ऐतिहासिक काव्यों में पद्मगुप्त का नवसाहसाङ्कचरित, बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित और कल्हण की राजतरंगिणी प्रसिद्ध हैं। 'नवसाहसाङ्क चरित' में मालवा नरेश नवसहसाङ्क का तथा विक्रमाङ्कदेवचरित में चालुक्य बंश के प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य के जीवन का काव्यमय चित्रण हैं।

इसके अतिरिक्त नाटक के क्षेत्र में भवभूति ने करुण रस से ओतप्रोत

'उत्तररामचरित' नाटक की रचना की। 'मालतीमाधव' और 'महावीरचरित' भी इन्हीं की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ हैं। संस्कृत भाषा के अतिरिक्त प्राकृत भाषा में भी नाटक रचे गए। इस सम्बन्ध में राजशेखर का 'कर्पूरमञ्जरी' नाटक प्रसिद्ध हैं। तत्पश्चात मुरारि ने 'अनर्घराघव' तथा कृष्णमिश्र ने 'प्रबोध चंद्रोदय' नाटक की रचना संस्कृत में की। इस नाटक में कृष्णमिश्र ने वेदान्त के सिद्धान्तों का वर्णन किया है।

रीतिवाद के प्रवर्तक वामन, रुद्रट तथा ध्वनिकार आनन्दवर्धन आदि संस्कृत के आचार्यों ने संस्कृत के अलंकार ग्रंथों की रचना की। आनंदवर्धन ने अलंकार शास्त्र पर अपने 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ की रचना की। इन्होंने ध्वनिवाद का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार काव्य में ध्वनि का होना परमावश्यक है। ये 'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' को मानते थे। इसी का अभिनवगुप्त ने भी प्रतिपादन किया।

इस युग में दर्शन का भी अधिक विकास हुआ। कुमारिलभट्ट, शंकराचार्य, रामानुज आदि दार्शनिकों ने दर्शन की वृद्धि में महान सहयोग दिया। कुमारिल भट्ट मीमांसक थे। अतः उन्होंने योग को विशेष स्थान दिया। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना की जिसमें उन्होंने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया। तत्पश्चात मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य ने इनके अद्वैतवाद का खण्डन कर सगुण भक्तिपूर्ण अद्वैतवाद का प्रचार किया। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत की स्थापना की।

जैन साहित्य के अन्तर्गत भी अनेक रचनायें इस समय में हुईं। सिद्धश्री, कनकसेन, वादिराज, हरिश्चन्द्र तथा हेमचन्द्र आदि प्रसिद्ध जैन विद्वानों ने अपनी रचनाओं द्वारा जैन साहित्य की वृद्धि की। हेमचंद्र का 'त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरितम्' ग्रंथ प्रसिद्ध है। इसमें इन्होंने ६३ जैन महापुरुषों की जीवनी तथा अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर के जीवन की घटनाओं का वर्णन अत्यन्त सरल एवं सुबोध शैली में किया।

इस युग में आयुर्वेद तथा विज्ञान ने भी उन्नति की। वाग्भट्ट ने अष्टांग-संहिता, चक्रपाणिदत्त ने चिकित्सासारसंग्रह, माधव ने रुग्विनिश्चय तथा वृन्द ने वृन्दमाधव एवं सिद्धयोग की रचना की। वाग्भट्ट चरक और सुश्रुत की भाँति प्रमाण समझे जाते हैं। इसके अतिरिक्त विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान भास्कराचार्य ने गणित तथा ज्योतिष सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे।

अतः इस युग म न केवल संस्कृत ने अपितु अपभ्रंश, पाली, प्राकृत, मागधी, राजस्थानी, पूर्वी हिंदी आदि भाषाओं ने अत्यधिक उन्नति की।

कला—

राजपूतों के समय में साहित्य क्षेत्र ने ही नहीं वरन् कला पक्ष न भी सराहनीय उन्नति की। इस युग में वास्तुकला एवं शिल्प कला की अधिक वृद्धि हुई। इस समय के मंदिरों में अनुपम वास्तु कला के दर्शन होते हैं। डा० स्मिथ का कहना है कि उस समय समाज में दो प्रकार की शैलियाँ निर्माण-कला के अन्तर्गत प्रचलित थीं—

१—उत्तरी अथवा आर्यावर्त शैली।

२–दक्षिणी अथवा द्रविड़ शैली।

ये दोनों ही शैलियाँ मंदिरों के निर्माण के लिए प्रयुक्त होती थीं। आर्यावर्त शैली का प्रचार उत्तरी भारत में ही था। इस शैली के दर्शन केवल हिमालय से लेकर नर्मदा तक के बीच-बीच में बने हुए मंदिरों में होते हैं। इस आर्यावर्त शैली के अन्तर्गत दो शाखाएँ थीं—

१—उत्तर-पश्चिमी आर्यावर्ती शैली।

२—उत्तर-पूर्वी आर्यावर्ती शैली।

उत्तर-पश्चिमी शैली के आधार पर जो मन्दिर बने उनके ऊपर के भाग में गुम्बद होता था तथा उस पर पसलियों की भाँति रेखायें थीं। इसका आकार रथ के ऊपर लगे हुए बाँस के बने हुए छत्र के सदृश होता था। मन्दिरों के ऊपर बने हुए शिखरों में एक और विशेष बात थी। वह यह कि चार स्थानों पर ढालकर तब सीधा ऊपर उठा कर ऊपर के पत्थर से मिला दिया जाता था। इस शैली के अन्तर्गत मध्य भारत के मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध हैं जो रेतीले पत्थर के बने हैं और जिनकी संख्या लगभग तीस है। ये मन्दिर चित्रकला की भी दृष्टि से बहुत उच्चकोटि के हैं। इन मन्दिरों में विश्वनाथ जी का मन्दिर देखने योग्य है। चंदेल राजाओं की आज्ञा से इन मन्दिरों का निर्माण सन् १००० के लगभग हुआ था।

उत्तर-पूर्वी शैली के अन्तर्गत मन्दिरों के शिखर का आकार चतुर्भज के सदृश था, जिनके कोण अन्दर की ओर से कमान के आकार के तथा ऊपर के भाग में गोल हो जाते थे। इन मन्दिरों में भुवनेश्वर के मंदिर विशेष रूप से दर्शनीय हैंऔर जो सौन्दर्य एवं कला की दृष्टि से भी अति उत्तम हैं। फर्ग्यूसन का

मत है कि मुक्तेश्वर का मन्दिर उड़ीसा की कला का अनुपम दृष्टान्त है। इसके अतिरिक्त राजरानी मन्दिर, कोनार्क के सूर्य मन्दिर एवं पुरी का जगन्नाथजी का मन्दिर संसार के सुविख्यात मन्दिरों में से हैं। काश्मीर का मार्तण्ड मन्दिर, डेरा इस्माइल खाँ के काफिरकोट के मन्दिर तथा आबू पर्वत का जैन मंदिर भी इसी निर्माण कला के अन्तर्गत आ जाता है। काश्मीर के मार्तण्ड मन्दिर के अब केवल खंडहर मात्र ही अवशिष्ट रह गए हैं किन्तु इस दशा में भी खड़े हुए वे राजपूत कालीन भारत की उत्कृष्ट कला का परिचय दे रहे हैं। इसका निर्माण कर्कोट वंश के महाराज मुक्तापीड ललितादित्य (७२४-७६०) ने करवाया था। आबू पर्वत पर स्थित दोनों ही जैन मन्दिर संगमरमर के बने हैं। इनमें पहला आदिनाथ का मन्दिर बहुत प्राचीन है और यह १०३० ई० में बना था। दूसरा मन्दिर भी उच्च कोटि का है और इससे दो सौ वर्ष बाद बना था

द्रविड़ शैली के आधार पर बने हुए मन्दिरों में तंजौर का सुब्रह्मण्य का मन्दिर तथा काँची का मुक्तेश्वर का मंदिर बहुत प्रसिद्ध है। इस कला का स्पष्ट रूप हमें मद्रास से पैंतीस मील दक्षिण की ओर मामल्लपुर के मंदिरों में प्राप्त होता है। पल्लव नरेश नरसिंह वर्मा के समय में सातवीं शताब्दी में इनका निर्माण हुआ था। ये गुहामंदिर 'रथ' नाम से प्रसिद्ध हैं क्योंकि यह एक ही चट्टान को काटकर बनाए गए हैं। यही इनकी विशेषता है। इन मन्दिरों में 'धर्मराज रथ' तथा 'गणेश रथ' आदि मन्दिरों के नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। मदुरा का मीनाक्षी का मन्दिर तथा तञ्जौर का राज-राजेश्वरी का मन्दिर वास्तव में देखने योग्य है। द्रविड़-शैली के मन्दिरों में शिखर नहीं होते। उनके ऊपर का भाग पिरोमिड के रूप की तरह का होता है।

अतः राजपूत काल में मन्दिर निर्माण कला उच्चतम शिखर पर पहुँच गई थी। इस समय के बने हुए मन्दिरों को देख कर सभी चकित हो जाते हैं। मथुरा तथा कन्नौज के भव्य मन्दिरों को देख कर महमूद गजनवी उनसे अत्यधिक प्रभावित हुआ था।

इस समय शंकराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य आदि महापुरुषों ने अपने मतों द्वारा बौद्ध धर्म का अंत कर दिया था और जनता में पौराणिक धर्म का प्रचार हो गया था। धनिक लोग मन्दिर, धर्मशाला आदि के निर्माण द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के सिद्धान्त पर विश्वास करते थे। इस समय के शासकों तथा धनिकों के पास धन भी बहुत अधिक था। अतः

उन्होंने अपना अधिकांश धन मन्दिरों के निर्माण में व्यय किया। इसी कारण इस युग में मन्दिर-निर्माण कला अपना इतना विकसित रूप धारण कर सकी।

राजपूत काल में मन्दिरों में प्रतिमाओं की भी स्थापना होने लगी थी। अतः मूर्ति-निर्माण कला का भी विकास हुआ। पाषाण की बनी हुई मूर्तियाँ वास्तव में दर्शनीय हैं जो इस समय में बनीं। देवी देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त इस युग के यशस्वी राजाओं की भी प्रतिमायें विद्यमान है जो उस समय की मूर्तिकला की प्रतीक हैं। कहीं कहीं पर जातकों की भाँति पुराणों के आख्यानों को भी मूर्त रूप में अंकित किया गया है। उदाहरणार्थ मामल्लपुर के गुहामन्दिरों में महिषासुर से युद्ध करती हुई दुर्गा देवी की प्रतिमा तथा गंगावतरण का दृश्य अंकित है। दक्षिण भारत में कांस्य की बनी हुई भगवान नीलकंठ की ताण्डव नृत्य का अभिनय करनें वाली मूर्ति देखने योग्य है। भगवान बुद्ध की मूर्तियों में आभूषणों का भी प्रयोग किया गया है। कुर्किहर से प्राप्त भगवान बुद्ध की प्रतिमा लखनऊ के संग्रहालय में रखी है जो नवीं शताब्दी की है। यह मूर्ति उस समय की कला का अनुपम दृष्टान्त है। इसम उनका ऊर्ध्व वस्त्र रेखाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसमें भाव प्रदर्शन की अपेक्षा वाह्य शृंगार का अधिक प्रदर्शन है और मथुरा की कुशाण कालीन कला की भाँति वस्त्र एक ही कन्धे पर दिखाया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि राजपूत काल युद्ध पूर्ण था किंतु ऐसे अशान्ति एवं हलचल के वातावरण में भी कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन आदि ने इतनी उन्नति की यह वास्तव में सराहनीय है। इस समय में युद्ध तथा कला दोनों ही समान गति से चली। यह सत्य है कि भारत की दशा इस समय बड़ी दयनीय थी किन्तु फिर भी उसके सनातन बल को कोई भी नहीं नष्ट कर सका। यवन शासकों ने यद्यपि समस्त राजपूतों पर अपना अधिकार कर लिया किन्तु उनका पिपासा से आकुल खड्ग भारतीय संस्कृति को नष्ट न कर सका। राजपूतों ने धर्म के नाम पर कभी उनके समक्ष मस्तक नीचा न किया और भारतीय संस्कृति अविचलित रूप से स्थित रही।

---

# हिंदू धर्म तथा इस्लाम

हिंदू धर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है । विश्व के कोने-कोने में हम किसी न किसी रूप में इसके दर्शन करते हैं । अतः यह स्पष्ट है कि समस्त धर्मरूपी बालकों ने किसी न किसी अंश में हिंदू धर्म रूपी माता का दुग्ध पान अवश्य ही किया है । यद्यपि भारत में अनेक जाति के व्यक्तियों ने आकर भारत की तत्कालीन दुर्बलताओं से प्रोत्साहित होकर अपना राज्य स्थापित किया और इस प्रकार भारतीय संस्कृति ने अन्य धर्मों के संसर्ग को प्राप्त किया, किन्तु फिर भी वह अपने अपूर्व रूप में ही विद्यमान रही । यह नहीं कि भारतीय संस्कृति उन धर्मों से प्रभावित नहीं हुई या उसने उनसे कुछ ग्रहण नहीं किया । उसने अन्य धर्मों से अधिकांश ग्राह्य अंशों को ग्रहण किया तथा उनको अपने में मिला कर उसके शरीर और आत्मा को एक ऐसा रूप प्रदान किया, जिससे वे पूर्णतया भारतीय संस्कृति की विशेषतायें बन गईं । अतः धर्म के संघर्ष में हिंदू धर्म की ही विजय हुई । उदाहरणार्थ भारत में अरबों के पूर्व यूनानी, शक, हूण, कुशान आदि अनेक विदेशी आये और उन्होंने यहाँ अपना राज्य भी स्थापित किया किंतु वे हिंदू धर्म से इतने प्रभावित हुए कि शीघ्र ही अपना अस्तित्व पूर्णतया खो कर उसी के मतावलम्बी हो गये । कुशान सम्राटों ने तो अपनी मुद्राओं पर शिव की मूर्ति स्थापित की । इसके अतिरिक्त कैडफाइसिस द्वितीय तथा वासुदेव कुशान सम्भवतः शैव धर्म को मानते थे ।

इन जातियों के पश्चात् भारत भूमि में अरबों ने पदापर्ण किया जिसके फलस्वरूप भारत में इस्लाम धर्म का प्रसार हुआ । भारतीय संस्कृति भी उससे प्रभावित हुई और उसने इस्लाम की अनेक मुख्य विशेषताओं को ग्रहण भी किया किंतु उन मुसलमानों पर भी अपना अमिट प्रभाव डाला ।

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब थे जिनका जन्म छठी शताब्दी में अरब में हुआ था । इनके पूर्व अरब में राजनीतिक ऐक्य का सर्वथा अभाव था । इन्होंने इस्लाम धर्म द्वारा उस समय के छिन्न-भिन्न समाज को एकता के सूत्र में बाँधकर उसे ईश्वर के एकेश्वरवाद का ज्ञान कराया । इस धर्म के

अन्तर्गत ऊँच-नीच, छुआ-छूत की भावनाओं को स्थान न था। जब भारत में इस धर्म का सूत्रपात हुआ उस समय भारत की सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त शिथिल पड़ चुकी थी। समाज में घृणा तथा ऊँच-नीच की भावनाओं ने अपना उग्र रूप धारण कर लिया था। समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था समाज का विनाश कर रही थी। अतः इस्लाम धर्म ने आकर शीघ्र ही तत्कालीन समाज में एकता की भावना को प्रसारित कर दिया। इसी एकता की भावना से प्रभावित होकर समस्त हिंदू जनता ने एक होकर धर्म के नाम पर नारे लगाने प्रारम्भ कर दिये और उसने परस्पर के घृणा भाव को भी त्याग दिया। इस प्रकार भारत में पुनः राष्ट्रीय भावना का आविर्भाव हुआ।

यद्यपि प्रारम्भ से ही चंद्रगुप्त मौर्य और तत्पश्चात् महाराज हर्षवर्धन आदि ने भारत में अनेक बार एकता तथा शान्ति स्थापित की किंतु उनके साम्राज्य के समाप्त होते ही भारत में पुनः अशान्ति छा गई किंतु इस्लाम के आने के पश्चात् जो भारतीयों में एकता की भावना आई वह अधिक दिन तक स्थिर रही। राजस्थान के महाराणा प्रताप तथा हम्मीरकुम्भ, विजयनगर के कृष्णदेवराम उन्हीं आदर्शों के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

### प्रभाव—धार्मिक क्षेत्र

भारत के धार्मिक क्षेत्र में यद्यपि ईश्वर के एकेश्वरवाद की भावना अत्यन्त प्राचीन थी परन्तु फिर भी भारतीय उस समय अपने उपनिषदों के सिद्धान्तों को भूल चुके थे। अतः इस्लाम के प्रभाव से भारत के कोने कोने में धार्मिक लहर फैल गई जो समाजरक्षा के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई।

मुस्लिम शासनकाल में भारत में धार्मिक क्रान्ति उपस्थित करनेवाले अनेक लोग हुए। इनमें हिंदू तथा मुसलमान दोनों ही जातियों के उदारचेता व्यक्ति थे। धर्म प्रचारकों में रामानन्द, कबीर, नानक, ज्ञानेश्वर आदि सर्वप्रमुख थे। जाति, वर्ग और आचार के सम्बन्ध में इनका बिलकुल विश्वास न था। आचरण की शुद्धि में ही ये लोग विश्वास करते थे। रामानन्द ने जनता से जाति पाँति के भेद के आवरण को हटाकर एकेश्वरवादी सिद्धान्त को उपस्थित किया। इनकी विचार धारा को हिंदू तथा मुसलमान दोनों ने ही स्वीकार किया। कबीर उनके प्रमुख शिष्यों में हैं। कबीर ने वाह्याडम्बरों को तथा पाखण्डों को व्यर्थ समझा और माला फेरने तथा जप आदि को ढोंग साबित कर आत्मसमर्पण को ही भगवत्प्राप्ति का साधन बताया।

उदाहरणार्थ सिर का मुण्डन कर मोक्ष प्राप्त करने के सिद्धान्त को उन्होंने कितनी सुन्दरता से असिद्ध किया है—

"'केसनि कहा बिगाड़िया, जो मूड़ै सौ बार।
मन को काहे न मूड़िये, जामें विषय विकार॥"

इसके साथ ही साथ कबीर ने मुसलमानों की उपासना शैली पर आक्षेप किया है। उनका कहना था कि क्या खुदा बहरा है जो मसजिद के ऊपर चढ़कर 'अल्ला हो अकबर' का नारा लगाया जाता है। इस प्रकार कबीर हिंदू तथा मुसलमान दोनों की ही धार्मिक भावनाओं के समन्वय के रूप में थे किन्तु उनके प्रति दोनों ही वर्गों का अखण्ड विश्वास था। उनकी मृत्यु की महान घटना ने हिंदू तथा मुसलमान दोनों के ही हृदयों को ठेस पहुँचाई।

इसी प्रकार रामानन्द के एक सुप्रसिद्ध शिष्य रविदास हुए जो जाति के चमार थे और रामानन्द द्वारा कथित उपदेशों से प्रभावित होकर भगवद् भक्ति के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हो गए थे। इनके माननेवाले चमार आज भी रामदासी नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार गुरुनानक भी अपने धार्मिक आदर्शों के प्रचारार्थ मक्का मदीना तक गये। इनका भी धर्म हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही जातियों में प्रसारित हुआ। इन्होंने सिक्ख धर्म की स्थापना की जिसे अधिकांशतः सिंधी तथा पंजाबियों ने स्वीकार किया। नानक के पश्चात् बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णव धर्म चलाया जिसे बंगाल के व्यक्तियों ने सिद्धि प्रधान वाम मार्ग का परित्याग कर अपनाया।

उत्तरी भारत में रामानंद ने रामभक्ति शाखा का प्रचार किया था। उस समय भारत में मुसलमान पूर्ण रूप से अपना साम्राज्य स्थापित कर चुके थे और हिंदू जनता पर हर प्रकार अत्याचार कर रहे थे। भारत की जनता मुसलमानों में मिलती जा रही थी। वह अपने धर्म एवं संस्कृति को भूलती जा रही थी। अतः रामानन्दी शाखा के महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने धनुर्धर भगवान राम के पवित्र चरित्र को रामचरितमानस के रूप में जनता के समक्ष रखा जिससे जनता शीघ्र ही प्रभावित हो गई और उसके ज्ञान चक्षु खुल गये। लोग अत्यन्त उत्साह के साथ धर्म प्रचार में तल्लीन हो गय। यद्यपि इस्लाम द्वारा हिन्दुओं का इतना पतन हुआ फिर भी धर्म के प्रति यह एकता तथा उल्लास की भावना उन्हें इस्लाम से प्रतिक्रिया रूप में ही प्राप्त हुई। उस समय के धार्मिक सम्प्रदायों में वैष्णव धर्म का अधिक प्रचार हुआ।

वैष्णव धर्म को मानने वाली हिंदू तथा मुसलमान दोनों ही जातियाँ थीं। अतः यह स्वाभाविक था कि वैष्णव धर्म तथा इस्लाम धर्म का कुछ न कुछ सम्पर्क अवश्य होता। भारतीय वेदान्त और इस्लाम के एकेश्वरवाद के सम्मिश्रण से सूफीमत की उत्पत्ति हुई। सूफी लोग धर्म के विषय में अत्यन्त सहृदय थे और उन्होंने भारतीय अद्वैतवाद, भक्ति मार्ग तथा रहस्यवाद आदि मतों को अपने मत में आत्मसात् कर लिया।

१६ वीं शताब्दी में आर्यसमाज की स्थापना हुई जिसके मूल सिद्धान्त थे त्रैतवाद[1] तथा मूर्तिपूजा का खण्डन। मूर्ति पूजा के विषय में आर्यसमाज के सिद्धान्त इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों से मिलते-जुलते थे। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में दोनों ही धर्म एक दूसरे से प्रभावित हुए।

## साहित्यिक क्षेत्र—

साहित्यक क्षेत्र और साहित्यिक भावनाओं में इस्लाम का तथा इस्लाम के मतावलम्बियों पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट रूप से हम देखते हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ता का कथन है कि सिकन्दर लोदी के समय से हिंदू जनता में फ़ारसी भाषा का प्रयोग होना कुछ अंश में प्रारम्भ हुआ। इसके साथ ही साथ भारत में कुछ ऐसे मुगल बादशाह हुए, जो अपनी भाषा तथा अपना धर्म प्रसारित करने के साथ ही साथ अधिकांश रूप म भारतीय साहित्य के अन्तर्गत धार्मिक ग्रन्थों से प्रभावित हुए। अकबर के समय में फ़ारसी भाषा का प्रयोग सामान्य रूप से होने लगा था और अकबर हिंदू धर्म के प्रति सहृदय था। उसने मुसलमानों में हिंदू धर्म का प्रचार करने के लिये ही दीनइलाही की स्थापना की। वह हिंदू तथा मुसलमानों में एकता स्थापित करना चाहता था। इसी कारण उसन अपनी प्रजा को एक दूसरे के ग्रन्थ पढ़ने की आज्ञा दी जिसके फलस्वरूप मुसलमान संस्कृत भाषा से अत्यन्त आकृष्ट हुए और उसे हृदयंगम करने का प्रयत्न करने लगे तथा हिंदू भी फ़ारसी भाषा को आदर की दृष्टि से देखने लगे। अकबर के शासन काल में अनेक संस्कृत के ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ।

इसके अतिरिक्त रामायण के आदर्शों से प्रभावित होकर बदाउनी ने

---

१—ईश्वर, जीव और जगत, सदैव से एक दूसरे से भिन्न हैं। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। जीव असंख्य हैं और अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान हैं। इसीलिए ईश्वर के अधीन हैं।

चार वर्ष में इस महाकाव्य का फारसी में अनुवाद किया और अन्य विद्वानों ने मिलकर महाभारत का अनुवाद रजानामा नाम से किया। फ़ैजी ने गणित की पुस्तक लीलावती का तथा मकम्मलखाँ गुजराती ने गणित-ज्योतिष की 'ताजकनीलकण्ठी' का अनुवाद फारसी भाषा म किया। मुगल बादशाह शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह स्वयं संस्कृत भाषा का प्रेमी था तथा उसने भगवद्गीता, योगवाशिष्ठ तथा अनेक उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया था। हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने 'अथर्ववेद' का अनुवाद किया। यहाँ तक कि संस्कृत साहित्य से मुसलमान इतने प्रभावित हुए कि संस्कृत के कवियों की रचनाओं के भी अनुवाद फारसी भाषा में हुए, उदाहरणार्थ कल्हण की राजतरंगिणी आदि का अनुवाद हुआ।

मुगल बादशाह हिन्दुओं का आदर करते थे। अकबर की राजसभा में हिन्दुओं का बड़ा हाथ था। उसके नवरत्नों में बीरबल, टोडरमल, मानसिंह आदि राजपूतों को महान आदर प्राप्त था।

मुगल काल में अनेक ऐसे मुसलमान कवि हुए जिन्होंने हिंदी भाषा से प्रभावित होकर उसी में रचनाएँ की। इनमें जायसी, अब्दुल रहीम खानखाना, रसखान आदि का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। रहीम अकबर के दरबार के नवरत्नों में थे। इन्होंने अनेक उपदेशपूर्ण दोहों की रचना की जो रहीम सतसई के नाम से प्रसिद्ध है। जायसी सूफ़ीमत को मानने वाले थे। उनके विचार भारत के वेदान्त तथा फारस के सूफी मत के उद्देश्यों से मिलते हैं। इन्होंने अपनी रचना में भारतीय शैली, छन्द तथा भाषा का प्रयोग किया है। इसी के आधार पर इनके महान ग्रंथ 'पद्मावत' की रचना हुई। आलम कवि की कविता में भी इसी प्रकार की भावनाओं का समावेश है और इन्होंने कृष्ण भक्ति से ओतप्रोत ग्रन्थ की रचना की जिसका उदाहरण नीचे प्रस्तुत है—

**"नवरसमय मूरति सदा, जिन बरने नन्दलाल।**
**आलम आलम बस कियौ, दै निज कविता जाल॥"**

इसके अतिरिक्त शाहजहाँ स्वयं हिन्दी भाषा में अत्यन्त सुन्दर कविता करता था। उसने अपनी पुस्तक 'नादिरातेशाहि' में हिंदू मुसलमान की एकता का वर्णन किया है। रामपुर के नबान सरसैयद मुहम्मद रज़ा अलीखाँ हिंदी काव्य तथा भारतीय संगीत के प्रेमी थे। उन्होंने 'संगीत-सागर' नामक ग्रंथ की रचना की।

इसी प्रकार मुसलमान कवि रसखान के आराध्य देव श्रीकृष्ण थे। रसखान भगवान श्रीकृष्ण की मंजुलमोहिनी मूर्ति से अत्यन्त आकृष्ट हुए तथा प्रेम भक्ति सागर में डूबकर इन्होंने भक्ति युग में जो सुन्दर तथा अपूर्व रचनायें कीं वे भारतीय साहित्य का प्रधान अंग बन गईं। श्रीकृष्ण के गो-चारण के रूप के रसखान अत्यन्त प्रेमी थे। उनके रूप का वर्णन इस प्रकार किया—

"या लकुटी अरु कामरिया पर
राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ॥"

इसके अतिरिक्त अन्य मौलवियों की रचनाओं में भारतीय विचार-धारा परिलक्षित होती है यथा मौलाना रूम की निम्नलिखित पंक्तियों में—

"दुई रा चूँ बदर करदम यके दीदम दो आलिमरा।
यके बीनम यके जोयम यके खानम यके दानम ॥"

गोस्वामी जी द्वारा वर्णित यह भावना छिपी है—

'उमा जे रामचरन रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध ॥"

आधुनिक युग में भी मुसलमानों का हृदय हिंदी की ओर से उदासीन नहीं हुआ है। मुसलमान हिंदी कवियों में मीर, सय्यद छेदाशाह, सय्यद कासिम अली का नाम प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार भारतीय साहित्य भी मुसलमानों की भाषा से प्रभावित हुआ। सूरदास ने अपनी महान कृति सूरसागर में अनेक फारसी, अरबी, तथा तुर्की आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया यथा—सही, नकीब, नौबत, जवाब, शोर, मुलजिम आदि। गोस्वामी जी ने भी अरबी भाषा के शब्दों का प्रयोग यत्र तत्र रामचरितमानस में किया है, जैसे जहान, कागज, लायक, तीर, खबर, दुनिया आदि। इस प्रकार इन भाषाओं के सम्मिश्रण ने तथा हिंदू मुसलमानों के सहवास ने उर्दू भाषा को जन्म दिया। वर्तमान हिन्दुस्तानी भी उसी का रूपान्तर है। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि जिस प्रकार मुसलमानों ने हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य की उन्नति की उसी प्रकार हिंदुओं ने भी फारसी तथा उर्दू भाषाओं को विकसित करने में कुछ उठा न रखा।

कला क्षेत्र—

ज्ञान पक्ष के अतिरिक्त कला पक्ष में भी हम दोनों ही जातियों का सामंजस्य देखते हैं। इस क्षेत्र में भी दोनों ने ही आदान प्रदान की भावना की पूर्ति की। मुसलमान प्रारम्भ से कला के इतने प्रेमी न थे किंतु भारतवर्ष में तो कला भारतीय संस्कृति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है और अप्रत्यक्ष रूप से परमानन्द को प्राप्त कराने का साधन है। जब मुसलमानों ने भारत में पदार्पण किया तो भारतीय कला को देखकर ये दंग रह गये और उसी समय से उसे हृदयंगम कराने की तीव्र ज्वाला उनके हृदय में धधक उठी। अकबर ने पहले तो चित्रकला को हेय समझा किंतु उसके मर्म को समझने के पश्चात् उसने उसके विषय में यह लिखा कि वह उस व्यक्ति से घृणा करता था जो चित्रकला से प्रेम नहीं करता था। वास्तव में चित्रकला द्वारा चित्रकार ईश्वर की अपूर्व सत्ता का अनुभव करता है क्योंकि यद्यपि वह मानव के अंगप्रत्यंगों का चित्रण उसी प्रकार करने में समर्थ हैं किन्तु वह उसमें प्राण संचार नहीं कर सकता। इसने अपने शासनकाल में चित्रकला की अत्यधिक उन्नति की। उसके राज्य में हिंदू तथा मुसलमान चित्रकार आदर के पात्र थे।

मुगल सम्राट शाहजहाँ तथा जहाँगीर भी भारतीय चित्रकला, वास्तु कला, तथा संगीत आदि से अत्यन्त प्रभावित हुए। इसी के फलस्वरूप शाह-जहाँ ने ताजमहल का निर्माण कराया जो अत्यन्त प्रसिद्ध है और भारतीय तथा फारस की स्थापत्य कला का समन्वय है। वैसे तो भारतीय कला का प्रसार विश्व के अनेक देशों में था किन्तु मुसलमानों ने इसका विशेष रूप से लाभ उठाया और उन्होंने उसकी महान उन्नति की।

संगीत—

मुसलमान भारतीय संगीत से भी प्रभावित हुए। मुगलकाल के बादशाहों ने संगीत की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। इसी कारण इस काल मे संगीत की भी अधिक उन्नति हुई। दोनों के संगीत के सम्मिश्रण से ध्रुपद, कव्वाली, धमार आदि का भारतीय संगीत के अन्दर प्रवेश हुआ। अमीर खुसरो ने आईन-ए-अकबरी के अनुसार भारतीय तथा ईरानी संगीत के आधार पर "ख्याल" और "तराना" का पहले पहल प्रचार किया। इस्लामी संगीत की अनेक परिभाषायें भारतीय संगीत के अन्तर्गत हैं और

सारंगी, सरोद, वंशी, वीणा, मंजीरा आदि अनेक भारतीय वाद्यों का मुसलमान लोग प्रयोग करते थ। अतः मुसलमानों का कला के प्रति इतना प्रेम भारतीय संस्कृति द्वारा ही समुद्भूत हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस्लाम धर्म ने भारत की धार्मिक, राजनैतिक, साहित्यिक तथा कला आदि क्षेत्रों में अतीव सहयोग दिया। इसके अतिरिक्त सामाजिक जटिलता को शिथिल कर दिया। महात्मा गाँधी के हरिजन आन्दोलन के मूल में इस्लाम धर्म की ही एकता के सूत्र विद्यमान हैं। इसके विपरीत इस्लाम ने भारतीय संस्कृति के उच्च तथा महान उद्देश्यों को अपनाया। उन्होंने भारतीय धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक ग्रंथों का अवलोकन एवं अध्ययन कर अपने ज्ञान को बढ़ाया तथा उनका फारसी में अनुवाद कर हिंदू धर्म के प्रसार में सहयोग दिया। कला के क्षेत्र में भी इस प्रकार के सुन्दर मकबरों तथा इमारतों का निर्माण कराया जो आज भी संस्कृति तथा इस्लाम धर्म के बीच में स्थित एकता की प्रतीक हैं।

# प्राचीन शासन-व्यवस्था

## राज्य-शास्त्र के अध्ययन के साधन—

वैदिक साहित्य में हमें प्राचीन शासन-तन्त्र पर बहुत से प्रसंग मिलते हैं। ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है और सम्पूर्ण सामग्री अधिकतर राज्यतन्त्र के विषय पर है। यजुर्वेद की संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्याभिषेक तथा राजा के लिए उचित यज्ञों का वर्णन मिलता है।

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्म पर्व में राज्यशास्त्र के सिद्धान्तों की व्याख्या मिलती है। राज्य की उत्पत्ति, राजा के कर्तव्यादि पर उसमें विशेष प्रकाश डाला गया है। वास्तव में महाभारत का यह भाग राज्यशास्त्र पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ समझा जा सकता है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र इस विषय पर बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन को क्रियात्मक रूप से चलाने के अतिरिक्त चाणक्य (कौटिल्य) राजनीति के बड़े विद्वान थे। राजनीति के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रन्थ में किया है वे प्रशंसनीय हैं।

महाभारत में मनु, भरद्वाज, गौरशिरस् आदि पूर्व के राजनीति के आचार्यों का उल्लेख है। इसी प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र में विशालाक्ष, वृहस्पति, वातव्याधि, कात्यायन आदि विद्वानों के नाम मिलते हैं। इन नामों से ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीन विद्वान अपनी रचनाओं में अपना नाम न देकर देवताओं या महर्षियों के नाम दे देते थे। इनमें से कोई भी ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र के बाद कामन्दकीय नीतिसार, शुक्रनीति, वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र आदि कुछ ग्रन्थ मिलते हैं।

## राज्य की उत्पत्ति—

महाभारत के शान्तिपर्व में राज्य की उत्पत्ति के विषय में यह

लिखा है कि पहले समाज में न राज्य था, न राजा और न दण्ड था, न दंड देने वाला। केवल धर्म से प्रजा अपनी रक्षा करती थी।[1] बाद में किसी प्रकार जनता का नैतिक पतन होने के कारण जंगल का नियम अर्थात् जिसकी लाठी उसकी भैंस, प्रचलित हो गया। तब ब्रह्मदेव ने विचार किया कि मनुष्य-समाज तभी स्थिर रह सकता है जब उसके लिए कुछ नियम बना दिये जायँ और उन नियमों को कार्य रूप में परिणत कराने के लिए एक राजा होना चाहिए। अत- ब्रह्मदेव ने समाज के संचालन के लिए एक ग्रंथ की रचना की और अपने आंतरिक बल से विरजस् नामक पुत्र उत्पन्न किया। इसको उन्होंने राजा बना दिया और प्रजा उसकी आज्ञा पालन करने लगी।

बौद्धों के धर्म ग्रंथ दीघनिकाय में भी लगभग इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। बौद्ध लोग ईश्वर में विश्वास नहीं करते। ग्रंथ में लिखा है कि आरम्भकाल स्वर्णयुग था। शनैः शनैः उस आदर्श दशा से पतन हुआ और समाज में अशांति फैल गई। ऐसी दशा में महाजनसम्मत नाम के व्यक्ति को लोगों ने अपना राजा चुना।

नारद और वृहस्पति भी आरम्भ के इसी प्रकार के स्वर्णयुग का उल्लेख करते हैं किन्तु राज्य की उत्पत्ति के विषय में वे किसी निश्चित तथ्य पर नहीं पहुँचते। कुछ भी हो हिन्दू विद्वानों का मत है कि समाज की उन्नति, शांति एवं सुव्यवस्था के लिए राज्य एक बहुत आवश्यक संस्था है और सरकार के बिना कोई भी देश स्थिर नहीं रह सकता।[2]

के० पी० जायसवाल ऐतरेय ब्राह्मण के आधार पर इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति युद्ध से हुई। एक बार देवों तथा असुरों में युद्ध हुआ। इस संग्राम में देवताओं की पराजय हुई। तब उन्होंने सोचा कि उनका कोई राजा न होने के कारण ही उनकी हार हुई। अतः राजा चुनना आवश्यक है।[3]

इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में और भी मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि राजा और प्रजा में एक प्रकार के करार या समझौते

---

१—न वै राज्यं न राजासीत् न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

२—अराजकं नाम रट्ठं पालेतुं न सक्का—जातक ६ ॥

३—'देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयंति राजानं करवामहा इति तथेति।

( Contract ) के आधार पर राज्य की उत्पत्ति हुई। कुछ लोगों का यह भी मत है कि राजा का सदा चुनाव होता था और राज्याभिषेक के समय वह कुछ प्रतिज्ञाएँ करता था। जब तक वह उन प्रतिज्ञाओं का उचित रीति से पालन करता था तभी तक वह राजा रह सकता था। शक्ति सिद्धान्त ( Force Theory ) के माननेवालों का कथन है कि मनुष्य के पारस्परिक वैमनस्यों से उत्पन्न झगड़ों के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई। अशांतिमय वातावरण से तथा परस्पर के वैमनस्य से लाभ उठाकर समाज का शक्तिशाली व्यक्ति सबको पराजित कर उनका अधिपति बन बैठा और वही राजा कहलाया।

यहाँ पर यह सन्देह हो सकता है कि उपर्युक्त मतों में राज्य की अपेक्षा राजा की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। इस सन्देह का निवारण कौटिल्य की निम्नलिखित व्याख्या से होता है:—

**राजा राज्यम्—इति प्रकृतिसंक्षेपः**

अर्थात् प्रकृतियों ( राज्य के अंगों ) को संक्षेप में रखने का अर्थ है कि राजा ही राज्य है। राजा ही शासन-तन्त्र रूप शरीर की आत्मा होने से राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। अतः राज्य के उत्पति सम्बन्धी मत वास्तव में राजा की उत्पत्ति को सूचित करते हैं।

## राज्य के भेद—

### १ राजतन्त्र—

वैदिक काल में राजतन्त्र का प्रचार था। शक्ति तथा सम्मान के आधार पर राजा के लिए राजा, महाराज, सम्राट् आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। राजतन्त्र दो प्रकार का था।

**(१) निरंकुश राजतन्त्र**—अथर्ववेद के एक स्थल[१] पर राजा को जनता का स्वामी तथा निरंकुश शासन करनेवाला कहा गया है।

**(२) सीमित राजतन्त्र**—इसके अनुसार प्रजा राजा को चुनती थी।[२]

### २ द्वैराज्य—

द्वैराज्य में शासन सत्ता दो राजाओं में विद्यमान रहती थी। सिकन्दर

१—३।३।४

२—विशस्त्वा सर्ववाञ्छन्तु ( ऋग्वेद १०।१७३ )

के आक्रमण के समय सिंध के पटल देश में दो भिन्न कुलों के राजाओं में राजसत्ता वर्तमान थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस प्रकार के राज्य का उल्लेख है किन्तु ऐसा राज्य उपयुक्त नहीं समझा गया। दो राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य के निवारणार्थ राज्य का विभाजन हो जाता था जैसा कि शुंगों ने विदर्भ के एक द्वैराज्य में किया था।[1]

जब दोनों राजा शान्ति के साथ राज्य करते थे तब यह द्वैराज्य शासन कहलाता था (प्राकृत—दोरज्ज, संस्कृत-द्वैराजक)। जब दोनों में विरोध होता था तब उसे विरोध राज्य (प्राकृत विरुद्धरज्ज, संस्कृत विरुद्ध राज्य) कहते थे।

### ३ धनिक राज्य (Oligarchy)—

वैदिक साहित्य में राजाओं के परस्पर सभा में मिलने का उल्लेख किया गया है। उनमें से प्रधान राजा वही हो सकता था जिसको अन्य सब राजा चाहते थे। इस प्रकार शासन-सत्ता धनिकों की एक सभा में विद्यमान थी जिसका प्रत्येक सदस्य राजा कहलाता था। इन राजाओं को अपना प्रमुख चुनने का अधिकार था और वह भी राजा कहलाता था।

### ४—गणराज्य (Republic)—

प्राचीन भारत में प्रजातन्त्र राज्यों की भी कमी न थी। ऐतरेय ब्राह्मण में विराट् शब्द मिलता है जिसका अर्थ है बिना राजा का राज्य। महाभारत में मध्य-भारत के यौधेय, मालव, शिवि, अर्जुनायन आदि गणराज्यों का उल्लेख है। गौतम बुद्ध के समय में शाक्य, भग्ग, कालाम आदि गणराज्यों के नाम मिलते हैं।

### ५—संघ शासन—

कभी कभी कई गणराज्य मिल कर एक संघ का निर्माण कर लेते थे। उत्तर-वैदिक काल में कुरु तथा पांचालों ने एक ही राजा के शासन म संघ की स्थापना की। क्षुद्रक और मालव गणराज्यों का उल्लेख महाभारत में एक साथ मिलता है। पाणिनि के समय में ये राज्य अलग-अलग थे। इसी प्रकार सिकन्दर के आक्रमण से बचने के लिए इन गणराज्यों ने संघ की

---

१—मालविकाग्निमित्र—अंक ५

स्थापना की थी। बुद्ध तथा महावीर के जीवनकाल में लिच्छवियों ने मल्ल तथा विदेह गणराज्यों के साथ संघ स्थापित किया।

साधारणतया प्राचीन भारत में एकात्मक राज्य ही होते थे। राजा प्रमुख होता था और उसी से राज्य के अन्य कर्मचारी--मंत्री आदि सत्ता ग्रहण करते थे।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, महाराज्य, साम्राज्य आदि शब्द मिलते हैं जो राज्य के भेदों को सूचित करते हैं। इनके अर्थ के विषय में अनेक मत हैं किन्तु इनका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है।

## राज्य के अंग—

कौटिल्य ने राज्य के सात अंग बताये हैं।[1]—

( १ ) स्वामिन् ( राजा )
( २ ) अमात्य ( मंत्री )
( ३ ) राष्ट्र
( ४ ) दुर्ग
( ५ ) बल ( सेना )
( ६ ) कोष
( ७ ) मित्र।

इनमें से कुछ अंग जैसे राजा, मन्त्री और राज्य के उच्च पदाधिकारी ( रत्निन् ), दुर्ग ( पुरः ), बलि का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होता है किन्तु उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा राज्य के सम्बन्ध पर अधिक प्रकाश नहीं डाला गया है।

## राज्य का उद्देश्य—

वैदिक तथा उपनिषद् काल में राज्य का मुख्य उद्देश्य जनता का पूर्णरूप से कल्याण करना था। धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीन पुरुषार्थों के ऊपर राज्य की दृढ़ शिला निर्मित हुई। धर्म का अर्थ था जनता में सदाचार एवं नैतिक बल का प्रसार करना तथा धर्म एवं पवित्रता की भावना उत्पन्न करना।

---

१— 'स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदंडमित्राणि प्रकृतयः'
(अर्थशास्त्र)

अर्थ पुरुषार्थ से तात्पर्य था राज्य में व्यापार, शिल्प, कृषि आदि राष्ट्रीय साधनों का विकास करना। काम पुरुषार्थ द्वारा जनता के अन्दर शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करते हुए एक सौन्दर्यपूर्ण तथा सुखद जीवन का अनुभव कराना राज्य का प्रमुख लक्ष्य था। इसी पुरुषार्थ के अन्तर्गत ललित कलाओं के विकास में भी विशेष सहयोग मिला।

इस प्रकार शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करना तथा समाज के नैतिक, सांसारिक तथा कलात्मक क्षेत्रों की उन्नति पर विशेष बल देना राज्य का मुख्य उद्देश्य था।

**राज्य तथा नागरिक—**

आधुनिक राजनीतिशास्त्र राज्य और नागरिक के सम्बन्धों को बतालाते हुए दोनों के अधिकारों पर विशेष रूप से बल देता है। भारत के प्राचीन राजनीतिज्ञ नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख करने की अपेक्षा राज्य के कर्तव्यों का वर्णन करते हैं। नागरिक के अधिकार तो इसके अन्तर्गत स्वयं ही आ जाते हैं। इसी प्रकार वे नागरिक के कर्तव्यों का उल्लेख करते हैं जिससे हम राज्य के नियन्त्रण का अनुमान कर लेते हैं।

योरोपीय विद्वान, चाहे वह प्राचीन हों अथवा आधुनिक, इस प्रश्न को लौकिक तथा वैधानिक दृष्टिकोणों से देखते हैं। वे नागरिक के राजनैतिक जीवन को उसके धार्मिक एवं नैतिक जीवन से बिल्कुल भिन्न मानते हैं। इसके विपरीत प्राचीन हिन्दू विद्वान नागरिक के राजनैतिक कर्तव्यों को उसके साधारण धर्मों का ही एक अंग मानते थे। ऐसा अनुमान किया जाता था कि राज्य तथा नागरिक दोनों अपने अपने धर्मों का पालन करेंगे।

यूनान तथा रोम के प्राचीन राज्यों में समाज को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया था—(१) नागरिक, (२) दास तथा (३) विदेशी। इस प्रकार राज्य के सभी निवासियों को समान दृष्टि से नहीं देखा जाता था। प्राचीन भारतीय समाज को मताधिकार के आधार पर नहीं विभक्त किया गया है। यद्यपि दास यहाँ भी होते थे किन्तु गृहस्थ अपने घर का काम स्वयं भी करते थे। नागरिकों और विदेशियों में भी किसी प्रकार का भेदभाव न था। इसका कारण यह है कि प्राचीन भारत में विभिन्न राज्यों में परस्पर सांस्कृतिक ऐक्य था। कोई भी अधिकार ऐसा नहीं होता था जिससे विदेशी वंचित रक्खे जाते। सम्राट अशोक ने एक

यनानी व्यक्ति को अपने शासन काल में उच्च पदाधिकारी नियुक्त किया था। राजा यशोवर्मा ने अपने शासन में एक हूण कर्मचारी को नियुक्त किया था। राष्ट्रकूटों ने यवनों को पश्चिमी भारत में बसने की आज्ञा दी तथा उन्हें अपने राज्य कर्मचारी चुने जाने की भी अनुमति दी।

## समिति, सभा तथा विदथ—

वैदिक साहित्य में लोकप्रिय सभाओं के लिए तीन नाम मिलते हैं:—
विदथ, सभा तथा समिति।

**विदथ** शब्द विद् (जानना) धातु से बना है। अतः इसका अर्थ विद्वानों की गोष्ठी है। राजनैतिक जीवन में इसका उल्लेख बहुत कम मिलता है।

## सभा—

सभा का संबंध वैदिक साहित्य में द्यूत से बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि पहले सभा एक प्रकार की गाँव की सामाजिक संस्था थी जिसमें गाँव के कुछ साधारण राजनैतिक मामले भी निपटाए जाते थे। अंतिम संहिताओं तथा ब्राह्मणों में सभा का अर्थ एक नवीन रूप में मिलता है। वहाँ पर वह लोकप्रिय ग्राम संगठन नहीं वरन् राजसभा का अर्थ रखती है।

## समिति—

ऋग्वेद के अंत में समिति एक सामाजिक अथवा विद्वज्जनों की गोष्ठी बतलाई गई है किन्तु साधारणतया इसका अर्थ केन्द्रीय शासन की लोकसभा से था।

## स्थानीय शासन (Local Self Government)—

प्राचीन भारत के गाँव एक प्रकार से छोटे छोटे गणराज्यों के रूप में थे क्योंकि वे राज्य की सहायता के बिना नागरिक के जीवन सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों का संचालन करते थे। ग्राम के अन्तर्गत एक ऐसा सार्वजनिक विभाग होता था जो गाँव की जनता के हित के लिए कार्य संपादित करता था। बृहस्पति के अनुसार ग्राम के समस्त व्यक्ति जातीय लाभ के लिए

यत्न करते रहते थे। इस सम्बन्ध में यदि कोई व्यक्ति नियमों का अतिक्रमण करता था तो उसे दण्ड का भागी बनना पड़ता था।

इसके अतिरिक्त वृहस्पति ने ग्राम संस्थाओं के कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला है। इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक स्थान, मन्दिर, जलाशय, विश्रामगृह, कुओं तथा नहरों आदि का निर्माण तथा उनकी रक्षा करना था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्राम संस्थाओं का कार्य केवल सांसारिक सुखों की पूर्ति करना ही न था वरन् जनता के आध्यात्मिक जीवन के विकास की ओर भी इनका विशेष ध्यान था। इस कार्य के लिए मन्दिर आदि का निर्माण कराया जाता था।

कुछ स्मृति ग्रन्थों में यह भी लिखा है कि ग्राम सभाएँ दुर्भिक्ष आदि के समय में पीड़ित जनता की आर्थिक सहायता करती थीं। इसके अतिरिक्त अंधों, रोगियों, दुर्बलों तथा असहायों की सहायता का भी भार उन पर था। निर्धन व्यक्तियों के मरने पर उनके शवों को जलाने का काम भी ग्राम सभाएँ करती थीं।

### न्याय व्यवस्था—

प्राचीन भारत में नियम को वहुत बड़ा महत्व दिया गया है। इसका स्थान राजा से भी उच्च बतलाया गया है। वृहदारण्य उपनिषद में नियम को राजाओं का राजा बतलाया गया है। राजा नियम बनाने वाला नहीं वरन् उसका रक्षक समझा जाता था। न्याय सम्बन्धी संस्थाएँ तथा कार्यकारिणी समितियाँ बिल्कुल पृथक् सत्ता रखती थीं। न्याय के दुरुपयोग के निवारणार्थ अनेक न्यायालय विद्यमान थे। किसी छोटे न्यायालय के मुकदमों की अपील उच्च न्यायालय में होती थी। न्याय के विषय में उच्चतम सत्ता राजा को ही प्राप्त थी।

स्मृतियों के अनुसार प्राचीन भारत में तीन प्रकार के न्यायालय होते थे—(१) कुल (२) श्रेणी तथा (३) पूग। कुल सबसे छोटा न्यायालय होता था जिसमें साधारण विषयों पर न्याय होता था। श्रेणी व्यापारियों तथा शिल्पियों का न्यायालय था जिसमें एक ही व्यवसाय के मानने वाले विभिन्न जातियों के लोग सम्मिलित होते थे। पूग न्यायालय में अनेक जातियों तथा व्यवसायों को मानने वाले लोग होते थे किन्तु वे एक ही ग्राम अथवा नगर के निवासी होते थे। इस प्रकार के स्थानीय न्यायालयों

का सिद्धान्त शुक्रनीति के अनुसार यह था कि किसी झगड़े में स्थानीय श्रेष्ठ पुरुष ही सर्वोत्तम न्यायाधीश हो सकते हैं। बृहस्पति का कथन है कि वन में भ्रमण करने वालों के लिए वन में न्यायालय होना चाहिए, योद्धाओं के लिए शिविर में तथा व्यापारियों के लिए काफिलों के अन्तर्गत न्याय की व्यवस्था होनी चाहिए। इन स्थानीय न्यायालयों की अपील राजा के समक्ष होती थी।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में न्याय की सुदृढ़ व्यवस्था थी।

---

# भारतीय कला

अर्थ तथा उद्देश्य—

मानव जीवन का व्यवहार क्षेत्र दो मुख्य प्रवृत्तियों का सामञ्जस्य है—(१) कार्य (२) निर्माण। निर्माण क्रिया ही का नाम कला है। कला का वास्तविक अर्थ अनुकरण नहीं वरन् अपने से उच्च वस्तु के अन्वेषण का प्रयत्न करना है जिसका तात्पर्य किसी वस्तु का उचित रीति से निर्माण करना है। डा० कुमारस्वामी के कथनानुसार कलाकार कोई विशेष प्रकार का व्यक्ति नहीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति ही एक विशेष प्रकार का कलाकार है।[१]

कला अनन्त है तथा शान्ति एवं कल्याण को प्रदान करने वाली है। कला मानव जीवन में चेतना का संचार करती है। कला से रहित जीवन शून्य है। मनुष्य केवल भोजन के आधार पर ही अपना जीवन-निर्वाह नहीं करना चाहता वरन् वह सौन्दर्यपूर्ण वस्तुओं का भी अपने हृदय से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है जिससे उसे सुख की अनुभूति हो क्योंकि सौन्दर्यपूर्ण वस्तु सदैव हर्ष का उत्पादन करती है।[२] मानव कला का अनन्य प्रेमी है। वह कला को जीवन में महान स्थान देता है तथा उत्कट रूप से उसकी वाञ्छा करता है और कला के लिये ही जीवन धारण करता है। कला मानव जीवन के ऐश्वर्यों का प्रतीक है। जिस प्रकार जीवन धारण करने के लिए वायु अत्यन्त आवश्यक है, उसी प्रकार मनुष्य जाति के आत्मिक संस्कार के लिए कला परमावश्यक तत्व है। कला का वास्तविक भक्त दार्शनिक होता है। कला मनुष्य को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाती है।

परब्रह्म परमात्मा के तीन अपूर्व रूपों—**सत्यं शिवं सुन्दरम्**—का

---

1. 'The artist is not a special kind of man, but every man is a special kind of artist.'

2. 'A thing of beauty is a joy for ever.'

प्रसार सृष्टि के अणु अणु में व्याप्त है। संसार के प्रत्येक पदार्थ के मूल में इन्हीं भावनाओं का समावेश मिलता है। अनन्त ब्रह्म के इन्हीं तीनों रूपों को लक्ष्य में रखकर पुरुषार्थ चतुष्टय के मूल सूत्र का अंकुर जमा जिस पर हमारी भारतीय संस्कृति का विशाल भवन खड़ा हुआ अपनी अखण्डता की ओर संकेत कर रहा है। अतः इन्हीं के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के समस्त लक्षण आ जाते हैं।

ईश्वर के 'सुन्दरम्' रूप से 'काम' पुरुषार्थ पूर्णतया सम्बन्धित है और कला भी ईश्वर के इसी 'सुन्दरम्' रूप का दर्शन हमें काम पुरुषार्थ के सम्पादन द्वारा कराती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अर्थ और काम का धर्मानुकूल सम्पादन मनुष्य को मोक्ष की ओर अग्रसर करता है। ललित कलाओं का साक्षात् सम्बन्ध यद्यपि सांसारिक पदार्थों से है तथापि उनका मुख्य ध्येय पुरुषार्थ-सेवी को मोक्ष की ओर ले जाना है।

## कला तथा सौन्दर्य—

कवि एवं कलाकार सौन्दर्य के उपासक होते हैं तथा उसे विभिन्न रूप प्रदान कर अनेक रूपों में उसी की आराधना करते हैं। यही कारण है जो उन्हें सांसारिकता से स्थूल रूप में दूर रखता है।

सौंदर्य तीन प्रकार का होता है—(१) दैवी (२) प्राकृतिक तथा (३) कृत्रिम। सौंदर्यानुभूति मानसिक भूमिका पर ही साध्य है। मनुष्य जो कुछ अपने हृदय में अनुभव करता है उसी का उचित रूप से प्रकाशन कला है। मनुष्य की अभिरुचि से सौंदर्य का निर्णय हो सकता है और यह अभिरुचि पैदा की जा सकती है। जितनी ही हमारे मस्तिष्क की प्रवृत्ति दैवी ऐश्वर्य की ओर होगी, उतना ही स्पष्ट दर्शन हम सौंदर्य का करेंगे और कला द्वारा उसका अनुभव दूसरों को करा सकेंगे।

प्रकृति ही सौन्दर्य का उच्चतम प्रतीक है। अतः कुछ लोगों का मत हैं कि कला द्वारा प्रकृति की बिखरी हुई सुन्दरताओं का समन्वय होता है। भारतीय धारणा के अनुसार दैवी कलाकार ने स्त्री का निर्माण करते समय चन्द्रमा से कान्ति, लताओं से लोच, हरिणों से दृष्टि, सूर्य-रश्मियों से उल्लास, बादलों से रुदन, मधु से माधुर्य, कोकिल से सरस वाणी को ग्रहण किया।

जब कला में नैतिक सौन्दर्य का अंश विद्यमान रहता हैं, तो उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है। सौन्दर्य के प्रकाशन के साथ ही साथ कला में

हित एवं नैतिकता की भावना निहित होनी चाहिए। बहुत से पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि कला कला के लिए होनी चाहिए, किन्तु भारत में कला का इतना निम्न स्तर कभी नहीं रहा। वास्तविकता पर विशेष बल देने-वाली भारतीय कला के अन्तर्गत रसास्वादन कराने के अतिरिक्त 'रामादि-वद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्' ( अर्थात राम की तरह व्यवहार करना चाहिए, रावण की तरह नहीं ) की उपदेशात्मक भावना भी छिपी है।

## कला तथा जीवन—

कला लोक का ही प्रतिबिम्ब है। वह मानव जीवन के रहस्यों का उद्‌घाटन चित्र, मूर्ति, शिल्प, संगीत आदि द्वारा कराती है। अतः कला वास्तविकता की ही अभिव्यक्ति है।

कला का तीन प्रकार के व्यक्यियों से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है—

( १ ) कारयितृ ( अर्थात कला का निर्माण कराने वाला )

( २ ) भोगिन् ( अर्थात कलात्मक रचना का उपभोग करने वाला )

( ३ ) दृष्टा ( अर्थात दर्शन लाभ करने वाला )।

कला इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों के जीवन में आनन्द का संचार करती है। कुछ कलाकार 'स्वान्तः सुखाय' कला का निर्माण करते हैं। उस दशा में कारयितृ, भोगिन् तथा दृष्टा एक ही व्यक्ति होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला तथा जीवन में भोज्य एवं भोक्तृ का सम्बन्ध स्थित है। उपभोक्ता के बिना कला का अस्तित्व व्यर्थ है तथा कला से रहित मानव निश्चेष्ट हो जाता है।

## निर्माण-विधि—

शिल्पशास्त्रों में कला की निर्माण-विधि के सम्बन्ध में लिखा है कि शिल्पकार को अत्यधिक चिंतन के बाद कला का निर्माण करना चाहिए।[1] शिल्पकार अथवा कलाकार का मुख्य ध्येय जनता को दैवी सौन्दर्य का दर्शन कराना है। कलात्मक रचना तो केवल इस लक्ष्य की पूर्ति का साधन है। इस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए शिल्पकार को स्वयं देवत्व का अनुभव करना चाहिये। अतः कलाकार में आध्यात्मिकता तथा नैतिकता का पूर्ण रूप से वर्तमान होना आवश्यक है। नैतिक बल के बिना देवत्व का अनुभव असम्भव है—

---

१—'ध्यात्वा कुर्यात्'

**'न नरेणावरेण प्रोक्त एष न सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।'**

इस प्रकार नैतिकता एवं आध्यात्मिकता से पूर्ण व्यक्ति की कलात्मक रचना में उसके व्यक्तित्व की भी झलक मिलती है। जब हम किसी सुन्दर चित्र को देखते हैं, तो हम चित्रकार की भाँति ही अनुभव करने लगते हैं। किसी कलात्मक रचना में अनभिरुचि के दो कारण हो सकते हैं—या तो उपभोक्ता अथवा दृष्टा सहृदय नहीं है या रचना सुन्दर नहीं है। यदि किसी व्यक्ति में नैतिक बल की कमी है तो उसकी उसी प्रकार की भावनाओं का प्रभाव उसकी कलात्मक रचना पर भी होगा क्योंकि जैसी कलात्मक प्रवृत्ति होती है उसका विकास उसी प्रकार कला में होता है। इस प्रकार कलाकार में नैतिक बल की कमी होने से कला का पतन हो जायगा। यही कारण है कि हमारे देश में कलाकार साधारण व्यक्ति नहीं वरन् महर्षि होते थे। इन महर्षियों ने देवत्व का अनुभव करके कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर जो रचना होती थी वही वास्तविक शिल्प-कर्म था।

## भारतीय कला की उत्पत्ति—

कला के प्रदर्शन की भावना अत्यन्त प्राचीन है। इसका आरम्भ पूर्णतया वैदिक काल में मिलता है। वैदिक काल में आर्य लोग प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की उपासना के साथ ही साथ यज्ञादि भी करते थे। इन यज्ञों में जो अनन्य एवं सुन्दरतम यज्ञ-वेदिकायें निर्मित होती थीं उन्हीं से वास्तु, शिल्प आदि कलाओं का जन्म हुआ। आगे चलकर जैसे-जैसे विराट् पुरुष की भिन्न-भिन्न विभूतियों की आराधना अपेक्षित हुई वैसे-वैसे ब्रह्मादि देवताओं की मूर्तियों का निर्माण होता गया जिनसे जनता के हृदय में भक्ति भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गई क्योंकि निराकार ब्रह्म के स्थान पर उसे साकार एवं सुन्दर ब्रह्म का रूप प्राप्त हो गया।

## विभिन्न कलाएँ—

### काव्य कला तथा संगीत—

काव्य मनुष्य की उत्कट भावनाओं का प्रतिबिम्ब है। लौकिक जीवन में मनुष्य संकीर्णताओं से आबद्ध रहता है। उसकी कुछ सीमाएँ होती हैं जो उसे प्रतिक्षण जकड़े रहतीं हैं किन्तु काव्य पक्ष में उन संकीर्णताओं के लिए

कोई स्थान नहीं। यद्यपि काव्य में नित्य की साधारण भावनायें चित्रित रहती हैं किन्तु कवि उन्हें इस सुचारु ढंग से वर्णन करता है कि पाठक उन्हीं में अपने को डुबो देता है। वह अपने अस्तित्व को कवि के व्यक्तित्व में खो देता है। इस प्रकार काव्य-कला मनुष्य को कुछ क्षणों के लिए सांसारिक प्रपञ्चों से मुक्त कर देती है।

इसी प्रकार की तन्मयता संगीत में भी विद्यमान है। संगीत का श्रवण कर मानव एक पारलौकिक रस का आस्वादन करता है। **सारंगदेव ने** संगीतरत्नाकर में लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति संगीत से ही सम्भव है। संगीत के प्रेमियों में शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, पार्वती आदि देवी देवता; कश्यप, नारदादि महर्षि; भोज, सोमेश्वर आदि राजा तथा अभिनवगुप्त जैसे आचार्य सम्मिलित हैं।

चित्रकला—

चित्रकला के विषय में एक कथा प्रचलित है। एक बार किसी ब्राह्मण का पुत्र अल्पायु होकर मर गया। ब्राह्मण ने यमदेवता से अपना पुत्र वापस माँगा। उसकी प्रार्थना अस्वीकार हो जाने पर वह राजा के पास गया। राजा ने ब्रह्म देव की उपासना की। ब्रह्मा न दर्शन देकर लड़के के चित्र बनाने की विधि बताई। चित्र तैयार होने पर ब्रह्मा ने उसमें जान डाल दी। इस प्रकार चित्रकला की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा हुई और विश्वकर्मा ने उसका प्रचार किया।

चित्रकार वस्तुतः उन्हीं पदार्थों के चित्रों को अंकित करता है जो प्रायः नित्य संसार में दृष्टिगत होते हैं किन्तु वह किसी पदार्थ के वाह्य रूप का चित्रण न करके उसके प्रति भावनाओं का चित्रण तूलिका की रेखाओं द्वारा करता है। ये रेखाएँ भावसूचक होती हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा हम चित्र को समझ सकते हैं।

संसार में मनुष्य के अनुभव प्रवृत्ति तथा निवृत्ति—इन दो कारणों से होते हैं। लोक-जगत में मनुष्य व्यावहारिकता तक ही सीमित रह जाता है किन्तु कला के क्षेत्र में वह उससे ऊपर उठ जाता है। चित्र में किसी पदार्थ को अंकित देखकर मनुष्य के हृदय में तन्मयता आ जाती है। उसे एक मात्र अपार सुख की प्राप्ति होती है। चित्रित वस्तु से मनुष्य किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता, न उसके प्रति उसकी प्रवृत्ति ही होती है किन्तु

लोक पक्ष में ऐसा नहीं होता। लोक पक्ष में प्रवृत्ति भावना प्रधान है। अतः लोक का प्रधान उद्देश्य है प्रवृत्ति तथा कला का मुख्य ध्येय है निवृत्ति।

भारतीय चित्रकला तीन भागों में विभक्त की जा सकती है—बौद्ध चित्रकला, हिन्दू अथवा राजपूत चित्रकला तथा मुसलमानी चित्रकला। इनमें से बौद्ध तथा राजपूत चित्रकलाएँ भारतीय चित्रकला के वास्तविक रूप हैं क्योंकि ये भारत के आध्यात्मिक जीवन के प्रतीक हैं। बौद्ध चित्रकला में अजन्ता की चित्रकारी बड़ी महत्वपूर्ण है।

### मूर्तिकला—

मूर्तिकला भी मानव जीवन को शिक्षा, सदाचार एवं सभ्यता का पाठ पढ़ाती है। यही कारण है कि प्राचीन काल की भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ एवं भगवान विष्णु और शिव की प्रतिमाएँ अनेक उच्च भावनाओं का प्रदर्शन करती हैं किन्तु उन प्रतिमाओं में निहित भावनाओं को समझने के लिए मनुष्य को अन्तर्मुखी बनना पड़ता है। भगवान बुद्ध की मूर्ति को देखकर हमें शांति, निरीहता आदि का उपदेश मिलता है। उनकी कांतिमान तथा उज्वल आँखें प्राणियों का कल्याण करने का पाठ पढ़ाती हैं।

इस प्रकार मूर्तिकला द्वारा भी मनुष्य अपने जीवन में कुछ शान्तिमय एवं सुखद क्षण प्राप्त करता है जिनमें वह कला का रसास्वादन कर इस लोक से ऊँचे उठकर इतर लोक के आनन्द का अनुभव करता है।

### वास्तु कला—

सम्राट् अशोक के पूर्व भारतीय वास्तुकला में मुख्यतया काष्ठ का प्रयोग होता था। ईंटों का प्रयोग बहुत कम होता था और वह भी नींव डालने अथवा ऊँचाई बढ़ाने में ही काम में लाई जाती थीं। देश में विदेशी प्रभाव बढ़ने लगा था और अशोक ने भी लकड़ी की इमारतों की जगह ईंटों और पत्थरों की इमारतें बनवाना आरम्भ कर दिया। विदेशी लोग यहाँ की वास्तुकला देखकर दंग रह गये।

### स्तूप—

भगवान बुद्ध के किसी अंग को पृथ्वीतल में निहित करके उस पर बने हुए स्मारक को स्तूप कहते हैं। अशोक ने अनेक स्तूपों का निर्माण

कराया जिनमें बहुत से नष्ट हो गये किन्तु साँची, भारहुत तथा सारनाथ के स्तूप आज भी महात्मा बुद्ध की महानता की ओर संकेत कर रहे हैं। बौद्धों की भाँति जैनों ने भी स्तूप बनवाये किन्तु उनका कोई भी स्तूप अब नहीं मिलता है।

मठ—

केवल बौद्धों ने ही नहीं वरन् जैनों तथा हिन्दुओं ने भी मठों का निर्माण कराया किन्तु जितना महत्व बौद्ध मठों को प्राप्त हुआ उतना अन्य मठों को नहीं। इसका कारण यह है कि बौद्ध धर्म में भिक्षुओं और भिक्षुणियों के संघ का विशेष महत्व था। अतः धर्म के प्रचारार्थ संघ के भवनों का अधिक संख्या में निर्माण स्वाभाविक था।

ये मठ केवल धार्मिक शिक्षा के ही केन्द्र न थे। इनमें लौकिक (विशेषकर कलाओं और शिल्पों की) शिक्षा भी दी जाती थी। दुर्भाग्यवश इनमें से कोई भी मठ अब वर्तमान नहीं हैं।

चैत्य—

इसमें २६ फीट लम्बा तथा १२ फीट चौड़ा एक बड़ा सा कमरा होता है जिसमें ३½ फीट की मोटी दीवालें होती हैं। इसका प्राचीनतम उदाहरण गया के पास लोमष ऋषि की गुहा है। सबसे अच्छा नमूना बम्बई के शोलापुर जिले में मिलता है। कुछ चैत्यों में बुद्ध की मूर्तियाँ भी खुदी होती थीं।

स्तम्भ—

प्राचीनकाल में धर्मप्रचारकों तथा राजाओं द्वारा स्तम्भ बनवाये जाते थे जिनके ऊपर पशु या पुरुष की कोई मूर्ति बनी होती थी। ये स्तम्भ दो प्रकार के थे—एक तो वे जिन पर लेख मिलते हैं, दूसरे बिना लेख वाले स्तम्भ। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अनेक पाषाण स्तम्भ बनवाये जिन पर बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त लिखे गये। बिना लेख के स्तम्भ का नमूना मुजफ्फरपुर जिले में मिलता है।

मन्दिर—

ब्राह्मणों का सबसे प्राचीन मन्दिर बरेली जिले के रामनगर स्थान

में मिलता है। यह शिव जी का मन्दिर है। इसका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी तथा ईसा के पश्चात् प्रथम शताब्दी के बीच का बतलाया जाता है। इसके अतिरिक्त कानपुर जिले के भीतरगाँव नामक स्थान पर चौथी शताब्दी का एक मन्दिर मिलता है।

मन्दिरों की दो मुख्य शैलियाँ मिलती हैं—(१) उत्तरी अथवा भारतीय-आर्य शैली। इसे आर्यावर्त अथवा नागर शैली भी कहते हैं। साधारणतया इसका क्षेत्र हिमालय पर्वत तथा नर्मदा नदी के बीच का भूभाग है। इसके मुख्य उदाहरण भुवनेश्वर तथा मुक्तेश्वर के मन्दिर हैं (२) दक्षिणी अथवा द्राविड़ीशैली। इसे वेसरशैली भी कहते हैं। इस शैली के मन्दिरों में एलोरा का कैलाश मन्दिर तथा बेलूर और बेलारी के मन्दिर प्रसिद्ध हैं।

इन दो शैलियों के अतिरिक्त दो शैलियाँ और मिलती हैं। वे हैं काश्मीरी तथा नैपाली शैली। प्रथम शैली के अन्तर्गत काश्मीर के राजा ललितादित्य का मार्तण्ड का मन्दिर प्रसिद्ध है। नैपाली शैली के मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त हाथी, शार्दूल तथा व्याघ्रिणी और शृङ्गिणी की मूर्तियाँ भी मिलती है।

## भारतीय कला की विशेषतायें

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर भारतीय कलाओं की कुछ मुख्य विशेषतायें प्रतिपादित की जा सकती हैं:—

१—भारतीय कला का मुख्य आधार हिन्दू धर्म एवं दर्शन है। अतः कला काम पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कराती है।

२—सृष्टिवाद के अन्तर्गत मनुष्य का विकास पाशविक और आध्यात्मिक वृत्तियों का समन्वित रूप है। प्राचीन संस्कृति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में व्यापक रूप से वर्तमान ब्रह्म का चित् अंश है और उसी की अभिव्यक्ति के लिए पाञ्चभौतिक शरीर अपेक्षित है। इस समन्वय के अन्तर्गत किसी समय मनुष्य में इन्द्रिय और तत्सम्बन्धी विषय (अर्थात् इन्द्रियार्थ) प्रधान होते हैं और किसी समय विशुद्ध आध्यात्मिक भावनाएँ ही प्रधान होती हैं। इन्हीं को हम क्रमशः पाशविक तथा आध्यात्मिक वृत्तियाँ कह सकते हैं। चूंकि कला का सम्बंध मनुष्य की भावनाओं की अभिव्यक्ति से है और मनुष्य में दोनों प्रकार की वृत्तियाँ पाई जाती हैं, इसलिए कला का उद्देश्य उभय प्रकार की भावनाओं की तृप्ति करना है।

( ३ ) भारतीय कला का प्रादुर्भाव योगदृष्टि सम्पन्न महर्षियों द्वारा हुआ। इसी से भारतीय कला का विकास नैतिकता पूर्ण होने से मनुष्य मात्र के लिए समान रूप से श्रेयस्कर है।

( ४ ) भारतीय कला का मुख्य उद्देश्य वास्तविकता का प्रतिपादन करना है।

( ५ ) कला द्वारा हमें उस अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है जो इह लोक से परे है।

( ६ ) कला द्वारा मानव-मस्तिष्क चरम विकास को प्राप्त होता है। वह व्यापकता का अनुभव करता है।

(७) कला शुष्क एवं मिथ्या प्रतीत होने वाले जगत में सौंदर्य का सृजन करती है।

( ८ ) भारतीय कला सौंदर्य के साथ ही साथ सत्य का प्रतिपादन करती है।

(९) उपनिषदों के निराकार ब्रह्म को अपनी असाधारण शक्ति द्वारा विविध सुन्दरतम रूप प्रदान कर भारतीय संस्कृति के अमूल्य प्रतीकों की स्थापना करना भारतीय कला की अपूर्व विशेषता है।

( १० ) कला के निर्माण के विषय में प्राचीन शिल्पकारों का मत है 'ध्यात्वा कुर्यात्' अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की जो विभूतियाँ ऋषियों ने प्रतिपादित कीं उनका भौतिक प्रतीक के रूप में प्रतिपादन ही कला का ध्येय है। यह तभी सम्भव है जब कलाकार स्वयं मानसिक और आध्यात्मिक भूमिका पर इतनी उन्नति कर चुका हो कि वह दैवी विभूतियों की प्रतीक के रूप में अभिव्यक्ति कर सके। इसी से भारतीय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कलाकार को अत्यन्त सदाचारी होना अपेक्षित है।

( ११ ) भारतीय कला कारयितृ, भोगिन् तथा दृष्टा—इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

---

# प्राचीन शिक्षा पद्धति

प्राचीन भारतीय समाज में आदिकाल से ही शिक्षा को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। शिक्षा से ही मानव को अविद्या के समस्त बन्धनों से मुक्ति प्राप्त होती है।[1] इसी कारण इस शास्त्रीय एवं शाश्वत तत्व को आत्मनिहित करनेवाले महर्षियों ने पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ काम, मोक्ष) को प्राप्त करने के लिये अन्य संस्कारों और साधनों के साथ ही साथ शिक्षा पर विशेष प्रकार से बल दिया है। उनका कथन है कि संस्कार-दोष तथा इन्द्रिय-दोष से ही मनुष्य में अविद्या का आविर्भाव हो जाता है[2] जिससे वह पतितावस्था की ओर उन्मुख हो जाता है। किन्तु शिक्षा द्वारा मानव मस्तिष्क विकसित हो जाता है तथा उसकी विवेचनशक्ति में विलक्षणता आ जाती है जिससे वह अपने हित-अनहित की पूर्णरूप से आलोचना कर, अपने जीवन्मार्ग को प्रशस्त बनाने में सफल होता है। शिक्षा उसे दुर्व्यवहारों तथा दुर्मार्गों से बलपूर्वक खींचकर सन्मार्ग पर आरूढ़ कर देती है। इसी कारण ऋग्वेद ने भी वाणी-शिक्षा तथा साहित्य की अपूर्वता को स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त काठक, मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिताओं में भी ज्ञानोपार्जन पर अधिक बल दिया गया है। ब्राह्मण ग्रंथ तथा उपनिषद भी स्थान स्थान पर इस बात का अनुमोदन करते हैं कि मानव के लिये ज्ञान तथा शिक्षा परमावश्यक है। वृहदारण्य उपनिषद में यह उल्लेख है—पिता को चाहिए कि वह अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध सुचारु रूप से करे, जिससे वह धर्मसम्पन्न पुत्र पिता को अध्यात्म लाभ करवाने में समर्थ हो सके। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति को ही सुख, स्वाधीनता

---

१—अविद्या से उत्पन्न हुई प्रवृत्तियों को रोककर विद्या से उत्पन्न हुई प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करनेवाले सत्र का नाम शिक्षा है।

२—संस्कारदोषादिन्द्रियदोषाच्च अविद्या।

तथा कीर्ति का भोग करने का अधिकार है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य है।

आदर्श—

भारतीय शिक्षा को विशेष प्रकार से तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है जो निम्नलिखित हैं—

१—माता के प्रभाव से होनेवाली शिक्षा।

२—पिता के प्रभाव से होनेवाली शिक्षा।

३—आचार्य के प्रभाव से उत्पन्न हुई शिक्षा।

इन्हीं तीन व्यक्तियों के ऊपर प्रत्येक मनुष्य की शिक्षा आधारित रहती है। इस पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने पर यह विदित होता है कि बालक के जन्म के पूर्व ही, माता के उदर में उसकी शिक्षा का सूत्रपात हो जाता है। इसका कारण यह है कि नौ मास माता के उदर में रहन पर बालक अथवा बालिका का शरीर ही नहीं निर्मित होता वरन् माता के विचारों के अनुकूल ही उसके प्राण, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों आदि का विकास अथवा विनाश भी अविकसित अवस्था में होता रहता है। इसीलिए एक शिक्षित एवं संस्कारयुक्त माता शिष्ट, प्रखर ज्ञानवाला और धर्म सम्पन्न पुत्र प्राप्त करने के लिए उसी के अनुसार कार्य करती थी। इसके अतिरिक्त गर्भ में स्थित बालक को आदर्श बनाने के लिये प्रारम्भ ही से गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन आदि संस्कार जन्म के पूर्व ही संपादित किए जाते थे। जन्म लेने पर बालक का सर्वप्रथम अटूट सम्बन्ध माता से होता है और माता के सान्निध्य में निरन्तर रहकर बालक पिता के सम्पर्क को प्राप्त कर उसके आचारों, विचारों तथा कार्यों से भी प्रभावित होता है। इस प्रकार बालक के अधिकांश विचारों एवं भावनाओं तथा नित्य की सुशिक्षा के आधार माता पिता ही होते हैं। कुछ वर्ष अपने माता पिता के साथ व्यतीत कर लेने पर बालक का उपनयन संस्कार होता था। उसके बाद उसे गृह में रहने का अधिकार न था क्योंकि उपनयन का अर्थ है समीप ले जाना। अतः वह अध्ययनार्थ किसी गुरू अथवा आचार्य के पास जाता था और वहीं रहकर गुरू की आज्ञा का पालन कर अध्ययन करता था। गुरु-गृह में ही बालक की वास्तविक शिक्षा प्रारम्भ होती थी। गुरू उसे वेद पढ़ाते थे और साथ ही साथ अप्रत्यक्षरूप से उसे आचारों विचारों एवं सांसारिक

व्यवहारों का ज्ञान कराते थे। गुरू के गृह में २५ वर्ष की अवस्था तक वह रहता था, तत्पश्चात् उसका समावर्तन संस्कार होता था जिसके फलस्वरूप शिष्य अपने घर में आकर विवाह से सम्पन्न होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, क्योंकि समावर्तन का अर्थ है लौटना।

इस अवस्था में आने पर उसकी शिक्षा पूर्ण समझी जाती थी, वैसे तो मनुष्य जीवन के अन्तिम स्तर पर पहुँचने तक शिक्षा प्राप्त करता रहता है। इस प्रकार माता, पिता तथा आचार्य का बहुत महत्व है और इन्हीं से सम्बन्धित प्रत्येक स्नातक के लिए तीन मुख्य उपदेश हैं—(१) मातृदेवो भव (२) पितृदेवो भव (३) आचार्यदेवो भव। भारतीय शिक्षा के मूल में स्थित ये ही तीन बड़े आदर्श हैं।

शिक्षण विधि तथा पाठ्य विषय—

गुरु-गृह में जाने पर शिष्य के लिए शिक्षा प्राप्त करने की विशेष विधि थी जो गुरु-शिष्य परंपरा के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ पर शिष्य को आचार्य वेदाध्ययन कराते थे जिसका ज्ञान बालक उसे स्मरण करके ही प्राप्त करता था। वहाँ पर रहकर वह गुरू की सेवा करता था। उसका सांसारिक प्रपंचो से कोई सम्बन्ध न था और उसे स्नातक कहा जाता था। वह भिक्षा याचना करता, तत्पश्चात् गुरू की आज्ञा से उसे ग्रहण करता था। वह आचार्य को ही पिता मानता था क्योंकि वास्तविक पिता जन्म देता है तथा आचार्य उपनयन के समय संस्कारों से पूर्ण सांस्कारिक जन्म देकर उसकी शुद्धि करता है। हमारी हिंदू संस्कृति उपनयन को दूसरा जन्म मानती है।[1]

इसके अतिरिक्त स्नातक गुरू के उपदेशानुसार अपने जीवन को संस्कारपूर्ण बनाता था। तत्पश्चात् अपनी अवस्था पूर्ण कर लेने पर गुरू की आज्ञा द्वारा वह पुनः गृह प्रवेश करता था। चलते समय गुरू उसे सफल जीवन बनाने के लिए उपदेश देते थे[2] जिनमें प्रमाद को सर्वथा त्याग देना,

---

१—इसी कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये द्विज शब्द का प्रयोग होता है।

२—सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यं कुशलान्न प्रमदितव्यं भूत्यै न प्रमदितव्यं स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यं। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। (तैत्तिरीय॰ शिक्षावल्ली)

माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि को देवता समझना, आदि बातों का उल्लेख है। ये उपदेश उसके जीवन काल के लिए अत्यन्त महत्व पूर्ण थे।

उस समय शिष्य के पढ़ने के लिये क्या-क्या विषय निश्चित थे इसका पता लगाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि ऋग्वेद का मूल ग्रंथ तो उपलब्ध है नहीं। अथर्ववेद में इतिहास, पुराण, स्मृति, धर्मशास्त्र, नाराशंसि गाथाओं आदि का जो उल्लेख प्राप्त होता है उससे विदित होता है कि गुरुकुल के शिष्यों के लिये प्रागैतिहासिक युग में यही पाठ्य-विषय थे। छात्र वेद की ऋचाओं का अध्ययन कर उन्हें कण्ठस्थ करते थे किन्तु उन ऋचाओं के पढ़ने तथा स्मरण करने के मूल में केवल रसास्वादन की ही भावना निहित थी। जो शिष्य अपने जीवन में आगे चलकर पुरोहित का कार्य करना चाहते थे उन्हें ऋचाओं का विस्तृत अध्ययन करवाया जाता था। उन्हें यज्ञादि से सम्बन्धित समस्त ऋचायें कण्ठस्थ करनी पड़ती थीं, किन्तु अन्य सर्वसाधारण विद्यार्थी इन्हें केवल साहित्यिक दृष्टि से पढ़ते थे। इसके अतिरिक्त उस समय के अनुकूल रेखागणित, छन्दःशास्त्र, नक्षत्रविद्या आदि का भी ज्ञान शिष्यों को कराया जाता था।

तत्पश्चात् उत्तर कालीन वदिक युग में शिष्यों को ऋचाओं म अर्थ-क्लिष्टता प्रतीत होने लगी जिसके फलस्वरूप एक कठिन शब्दों की तालिका बनाई गई जो निघण्टु के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके रचयिता यास्क मुनि थे। इस समय से ऋचाओं की व्याख्या में व्याकरण का सहयोग लिया जाने लगा। अतः व्याकरण का भी पढ़ना शिष्यों के लिये अनिवार्य हो गया।

उपनिषदों के परवर्ती काल में वेदाध्ययन के अतिरिक्त शिष्यों को कुछ आवश्यक शिल्पों का भी ज्ञान कराया जाने लगा। छान्दोग्य उपनिषद् में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि नारद जी को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये वेद, व्याकरण, पितृतर्पण, गणित, दैवविद्या, तर्क, राजनीति, ब्रह्म विद्या, सर्प विद्या, जन विद्या आदि का अध्ययन करना पड़ा था। अतः उस काल में वेदाध्ययन के साथ अन्य विद्यायें भी पढ़नी पड़ती थीं।

Anthropology

ब्राह्मण छात्र वैदिक कर्मकाण्ड का पूर्ण रूप से अध्ययन करते थे। वैदिक ज्ञान की ज्योति को सदा देदीप्यमान रखना ही इनके जीवन का ध्येय था। इसी कारण इनका सम्पूर्ण समय उसी के अध्ययन में व्यय होता था। इसके अतिरिक्त अन्य वर्ग के शिष्य वेदाध्ययन समाप्त कर अपना कुछ समय अपनी रुचि के अनुरूप अन्य व्यवसायों में व्यतीत करते थे। जातक साहित्य में वर्णित धनुर्विद्या, आयुर्वेद, सर्प विद्या, नक्षत्र विद्या, ज्योतिष, गणित,

व्यवहार तथा व्याकरण आदि १८ शिल्पों का शिष्य अपनी रुचि के अनुकूल अभ्यास करते थे।

स्मृति, पुराणों तथा भाष्यों के समय के पिछले भाग में वैदिकी भाषा दुर्बोध सी प्रतीत होने लगी और समाज में यज्ञादि क्रियायें प्रायः अप्रचलित सी हो गईं। लोगों का सांसारिकता की ओर अधिक आकर्षण होने लगा। अतः इस समय के विद्यार्थियों को आयुर्वेद, चिकित्सा, वास्तु, चित्रकला तथा शल्य आदि लौकिक विषयों का अध्ययन कराया जाने लगा क्योंकि इस युग में इन समस्त विद्याओं के उपयोग की सुविधायें उपस्थित थीं।

## शिक्षा केन्द्र—

वैदिक युग में महान ऋषियों के कुछ ऐसे आश्रम थे जहाँ दूर दूर से शिष्य आकर विद्याध्ययन करते थे। ये ही उस समय में शिक्षा के केन्द्र थे। उदाहरणार्थ नैमिषारण्य में कुलपति शौनक का आश्रम प्रसिद्ध है। इसी प्रकार विश्वामित्र, कण्व, वशिष्ठ आदि महर्षियों के भी आश्रम थे। अतः गुरु गृह, गुरुकुल तथा आश्रम को ही शिक्षा का केन्द्र माना जाता था और शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी।

बौद्ध समय में गुरुकुल तथा आश्रम का स्थान बौद्ध विहारों ने ले लिया और यह आश्रम व्यवस्था शनैः शनैः शिथिल पड़ती गई। इन विहारों में न केवल बौद्ध भिक्षु अपितु बौद्ध धर्म को मानने वाले अन्य व्यक्ति भी शिक्षा प्राप्त करते थे।

जातक साहित्य से विदित होता है कि प्राचीन भारत में शिक्षा के अनेक केन्द्र थे यथा तक्षशिला, काशी, राजगृह, मिथिला, नालन्द, विक्रम-शिला, तथा मदुरा। इनमें तीन मुख्य केन्द्र अथवा महाकेन्द्र थे—

१—तक्षशिला विश्वविद्यालय
२—नालन्द विश्वविद्यालय
३—विक्रमशिला विश्वविद्यालय

## तक्षशिला—

भारत का अत्यन्त प्राचीन तक्षशिला विश्वविद्यालय रावलपिंडी से १८ मील की दूरी पर तक्षशिला नगरी में था। यहाँ की सभ्यता संसार की अन्य सभ्यताओं के बीच मे सर्वोच्च पद ग्रहण करती थी। कौटिल्य आदि

राजनीतिज्ञ तथा भृत्य कौमारजीव जैसे शल्य-चिकित्सक ( Surgeon ) इसी विश्वविद्यालय म अध्यापक थे। यहाँ पर देश विदेश से अनेक विद्यार्थी आकर वेद, धर्मशास्त्र आदि १८ विद्याओं का अध्ययन करते थे।

पर्वतों के बीच में स्थित होने के कारण ही इसका नाम 'तक्षशिला' पड़ा, क्योंकि चीनी भाषा में तक्ष का अर्थ 'पहाड़' है।

ईसवी सन् के ५०० वर्ष पूर्व से छठी शताब्दी पर्यन्त इसकी ज्योति देदीप्यमान रही। तत्पश्चात् हूणों ने भारत में आकर इसकी कीर्ति का विनाश कर दिया। उसके बाद २५०० वर्ष बाद की खुदाई में बर्तन भाड़े, दावात, थाली, लोटा, हीरक-हार, कसौटी-पत्थर, मटके आदि अनेक वस्तुयें प्राप्त हुई जो उस समय की सभ्यता की ओर संकेत करती हैं।

तक्षशिला के उस महान् विश्वविद्यालय के स्थान पर अब खंडहर तथा वीरान स्थान है। इसके खंडहर जौलिया, पिपला, जांडियाल तथा रिचस्तूप आदि स्थानों के थोड़ी ही दूर पर पाये जाते हैं। इसकी खुदाई से यह भी पता चला है कि तक्षशिला में ब्राह्मण, बौद्ध-दर्शन, साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि पर अनेक ग्रंथ लिखे गये। अतः यह विश्वविद्यालय भारत की समृद्धिशालिनी सभ्यता का महान प्रतीक है।

नालन्द—

पाली सहित्य के अनुसार इसकी स्थिति राजगृह से ८ मील की दूरी पर है। चीनी यात्री फाहियान का भी यही मत है। नालन्द विश्वविद्यालय वास्तव में उस समय संसार भर का ज्ञान-पीठ था और इसी ने उस समय के जगत को भारतीय ज्ञान, विज्ञान, धर्मशास्त्र, साहित्य, दर्शन, कला तथा शिल्प आदि का ज्ञान प्रदान किया था। यहाँ के स्नातक (विद्यार्थी) प्रकाण्ड पंडित थे जो विद्वत्ता में अपनी विश्वभर में सानी नहीं रखते थे। बौद्ध काल में यह शिक्षा का मूल स्रोत था। इसमें चीन, जापान, तिब्बत श्याम, बर्मा आदि स्थानों से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग का मत है कि इसमें १०,००० छात्र तथा १५०० अध्यापक थे। शीलभद्र प्रधानाध्यापक थे। इस विश्वविद्यालय के विहार के अन्तर्गत ८ विस्तृत कक्ष तथा ३०० प्रकोष्ठ थे। रत्नसागर, रत्नोदधि तथा रत्नरंजक नामक तीन पुस्तकालय थे और हीनयान, महायान, वज्रयान तथा अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्धित अनेक ग्रंथ इन पुस्तकालयों में विद्यमान थे।

नालन्द न केवल मगध का अपितु सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान विज्ञान का उद्गम स्रोत था। खुदाई में प्राप्त हुई वस्तुओं से विदित होता है कि यहाँ किताबी शिक्षा के अतिरिक्त हस्तकौशल की शिक्षा का भी प्रबन्ध था। प्राचीनकाल में बिना यहाँ अध्ययन किए शिक्षा अपूर्ण समझी जाती थी। अतः यह स्पष्ट है कि उस समय भूमण्डल पर विद्यमान यह अत्यन्त विशाल एवं गम्भीर ज्ञान समुद्र के रूप में था, जिसका यश अद्वितीय था।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय—

इस विश्वविद्यालय की स्थिति के विषय में अनेक मत होते हुए भी बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद के आधार पर इसकी स्थिति भागलपुर जिले के सुल्तानगंज नामक स्थान में बताई जाती है। सुल्तानगंज का ही दूसरा नाम विक्रमशिला है। इसी से इसका यह नाम पड़ा।

इस विश्वविद्यालय के चारों ओर तोरण थे। उनमें चार ही प्रवेश-द्वार भी थे। प्रत्येक प्रवेश द्वार पर एक-एक प्रवेशिका-परीक्षा गृह था। उनम एक एक प्रकाण्ड विद्वान रहता था। जब कोई विद्यार्थी आता था तो ये उसकी परीक्षा लेते थे। उसकी विद्वत्ता से सन्तुष्ट होकर ही ये उसे अन्दर प्रविष्ट होने देते थे।

इसके अध्यापन विभाग में रत्नवज्र, लीलावज्र, दीपंकर, श्रीज्ञान आदि आठ महापण्डित तथा १०८ पंडित थे। यहाँ धर्म, साहित्य, दर्शन, न्याय तथा विशेषरूप से मन्त्रशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ भारतीय ही नहीं वरन् विदेशी छात्र भी विद्या प्राप्त करते थे।

सन् ११९३ ई० में पालवंशी राजाओं के पतन के साथ ही साथ इसका भी सर्वनाश हो गया तथा इसका नाम उन्हीं के पतन के अन्धकार में लुप्त हो गया। यवनों के काल में मुहम्मद बिन-अख्तियार ने नालन्द और विक्रम-शिला विश्वविद्यालयों को लूटकर अगणित विद्यार्थियों एवं अध्यापकों का अन्त कर दिया। अतः २००० वर्ष की इस प्राचीन तथा उच्च संस्था को यवनों ने इस प्रकार नष्ट भ्रष्ट कर दिया कि वह पुनः अपना मस्तक न उठा सकी।

इस आधुनिक युग में भी अनेक शिक्षण संस्थायें हैं—उदाहरणार्थ काशी विश्वविद्यालय, प्रयाग विश्वविद्यालय, लखनऊ, बम्बई, पटना आदि के

विश्वविद्यालय। किन्तु इनकी शिक्षा प्राचीन शिक्षा से भिन्न है। वर्तमान शिक्षा का आधार ज्ञान प्राप्त करना न होकर व्यवसाय बन गया है। यही कारण है कि पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर लेने पर भी विद्यार्थी को अपने में मानसिक तथा शारीरिक दुर्बलता ही प्रतीत होती है और वह जीवन संघर्ष को देखकर भयभीत हो जाता है।

———

# भारतीय संस्कृति की विशेषतायें

भारतीय संस्कृति संसार की अन्य संस्कृतियों के बीच में अपना प्रधान स्थान ग्रहण करती है। मानव जीवन के अखण्ड एवं सूक्ष्म रहस्यों का समाधान करनेवाली भारतीय संस्कृति अन्य देशों की संस्कृतियों से अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि विश्व के महान इतिहास में अनेक संस्कृतियों का उदय अस्त होता आया है जिनमें से कुछ की तो प्रखर कांतिमान ज्वालायें बिल्कुल ठंडी पड़ चुकी हैं,[1] किन्तु व्यक्ति के ज्ञान को उच्चतम शिखर पर पहुँचा देनेवाली यह संस्कृति अपने अपूर्व रूप में ही विद्यमान है।

किसी भी देश की संस्कृति उस देश के धर्म, दर्शन, कविता, संगीत, कला आदि पर आधारित है। इन्हीं रूपों द्वारा संस्कृति अपने को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। अतः यदि भारतीय संस्कृति पर विचार करें तो इसके अन्तर्गत हम अनेक महान एवं अपूर्व विशेषतायें पाते हैं जो निम्नलिखित हैं—

भारतीय संस्कृति की सर्वप्रधान विशेषता है उसकी आध्यात्मिक भावना जिसके द्वारा वह मानव को मुक्ति के पद पर प्रतिष्ठित कराने में समर्थ होती है। भारतीय संस्कृति का विशाल भवन **पुरुषार्थ चतुष्टय** ( धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ) पर आधारित है। इन चारों ही तत्वों में घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि प्रथम तीन तत्वों के सम्मेलन द्वारा चतुर्थ तत्व की प्राप्ति होती है। किन्तु इनमें धर्म सर्वप्रधान है और यही सबके मूल में स्थित है। मुक्ति की प्राप्ति तभी हो सकती है जब धर्मानुकूल अर्थ तथा काम का सेवन किया जाय अन्यथा नहीं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि मनुष्य को धर्मानुकूल अर्थ और काम का भोग करना चाहिए।[2] इसके अतिरिक्त

१—मिश्र, बाबुल, सुमेरु, बेबीलोनिया की संस्कृति जिनका नाम विश्व पट पर से लुप्त हो गया है।

२—"धर्मानुकूलौ अर्थकामौ सेवेत"

वात्स्यायन ने भी अपने कामशास्त्र में धर्म की सर्वोच्चता को माना है।[1] उनका भी कथन है कि शरीर की स्थिति के लिए, धर्मानुकूल भोजन का प्रयोग करना ही काम है। अतः धर्मानुकूल अर्थ तथा काम पुरुषार्थ का सेवन करके ही परमपुरुषार्थ मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

इन भावनाओं के अतिरिक्त जो एक अत्यन्त महत्व पूर्ण वस्तु है वह है **हिन्दू दर्शन** जो उपरोक्त चारों पुरुषार्थों का पालन करने के लिए शक्ति देता है। इसके अन्तर्गत सगुण-निर्गुण, द्वैत-अद्वैत, एकेश्वरवाद आदि आ जाते हैं। इस जीवन में अपना अपना कर्तव्य करते हुए भी मनुष्य द्वैत से ऊपर उठकर अद्वैत के पद पर आरूढ़ हो जाता है और इस अवस्था म वह सांसारिक प्रपंचों ते अलग होकर ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इसी का नाम मुक्ति है। यह मक्ति की अवस्था सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। इसको प्राप्त कर आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्म से एकीकार हो जाता है और जीव आवागमन के चक्र से छूट जाता है। आधिदैविक तथा आधिभौतिक क्षेत्र में भी वह समस्त पदार्थों पर विजय प्राप्त कर लेता है और वह स्वयं अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगता है, ऐसा मुण्डकोपनिषद में कहा गया है।[2] अतः स्वरूपनिष्ठा ही मानव जीवन की उच्च अवस्था है। इसी के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य मुक्ति की प्राप्ति करता है।

भारतीय संस्कृति की दूसरी महान विशेषता है उसमें प्रतिपादित **कर्म का सिद्धान्त**। भारतीय संस्कृति सृष्टि को अनादि तथा ईश्वर की विभूति बतलाती है और इस सिद्धान्त की पूर्ति कर्म के सिद्धान्त द्वारा होती है। संसार में मनुष्य कर्म बन्धन से आबद्ध रहता है। मनुष्य के तीन प्रकार के कर्म[3] होते हैं जिनका भोग करना उसके लिये परमावश्यक है। मनुष्य अपने जीवन में जो कार्य करता है वे सब क्रियमाण कार्य हैं। उनम से कुछ का तो भोग वह अपने जीवन में कर लेता है परन्तु बाकी कर्म उसके संचित

---

१—"श रेरस्थितिहेतुत्वात् आहार सधर्मः कामः"

२—"यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्
तस्मादात्मज्ञं अर्चयेद्भूतिकामः ॥"
(मुण्डक ३।१।१०)

३—प्रारब्ध, क्रियमाण, संचित।

रहते हैं। उन्हीं को भोगने के लिये वह पुनः जन्म धारण करता है और उन संचित कर्मों का भोग करता है। इसी प्रकार फिर वह जो कुछ कार्य करता है उनमें कुछ संचित हो जाते हैं। इस प्रकार वह फिर जन्म धारण करता है। संचित कर्मों के समाप्त हो जाने पर ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है।

भारतीय संस्कृति ने इन कर्मों से छुटकारा पाकर मुक्ति को प्राप्त करने का भी साधन बताया है। उसके अनुसार मनुष्य को अपने जीवन में **निष्काम कर्मभाव** से कार्य करना चाहिए। वह कर्म अवश्य करे किन्तु उनसे निर्लिप्त रहे। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने इसी का उपदेश दिया है कि मनुष्य को इस संसार में उसी प्रकार रहना चाहिये जैसे जल में कमल का पत्ता विद्यमान रहता है।[1] इसके अतिरिक्त उनका कथन है कि मनुष्य को कर्म करना चाहिये किन्तु उसके फल की इच्छा न करनी चाहिये।[2] इस प्रकार निष्काम भाव से कर्म करके मनुष्य क्रियमाण द्वारा संचित को रोक सकता है और जब संचित कर्म की समाप्ति हो जायगी तो उसे पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ेगा क्योंकि उसके लिये कुछ भोगने के लिये रह ही नहीं जायगा। इस प्रकार कर्म बन्धन से मुक्त होकर वह मुक्ति को प्राप्त हो जायगा। अन्य संस्कृतियों के लोग इस कर्म सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका विश्वास है कि मनुष्य के जीवन के साथ ही साथ उसके कर्म भी समाप्त हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति की रहस्यमयी तथा महत्वपूर्ण विशेषता है उसमें वर्णित **वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था**। समाज की उन्नति के हेतु भारतीय संस्कृति ने समस्त मनुष्यों को चार वर्णों में विभक्त कर दिया है। इन चार वर्णों की प्राकृतिक व्यवस्था मनुष्य की कर्मोन्नति का तथा उस अलौकिक परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने का अपूर्व साधन है।

सृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति के गुण, स्वभाव आदि एक से नहीं होते। किसी व्यक्ति में किसी गुण की प्रधानता रहती है तो किसी में अन्य गुण की। अपने आध्यात्मिक एवं शारीरिक बल के ही आधार पर मनुष्य कोई

---

१—'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गम् त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥" (गीता ५। १०)

२—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
माकर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥" (गीता २। ४७)

भी कार्य करने में समर्थ होता है। यदि किसी अल्प-बुद्धि वाले व्यक्ति को अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्यमय कार्य का सम्पादन सौंपा जाय तो उसे कठिनांई होगी जिससे वह व्यक्ति उस कार्य के करने में अधिक से अधिक समय का व्यय करने पर भी न कर सकेगा। इसी कारण समाज की व्यवस्था एवं व्यक्ति की सरलता के लिए सम्पूर्ण व्यक्तियों को उनकी बुद्धि एवं बल देख कर चार वर्णों में विभाजित कर दिया गया—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।

इस व्यवस्था द्वारा व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास के सर्वोत्कृष्ट पद पर पहुँचने की शक्ति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार अपनी अल्पशक्ति तथा सीमित सामर्थ्य द्वारा भी वह अनन्त ब्रह्म की ओर अग्रसर हो सकता है। अतः परमानन्द की प्राप्ति में यह व्यवस्था भी अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है।

भारतीय संस्कृति के अनुसार प्रत्येक प्राणी के लिए १०० वर्ष की आयु अपेक्षित है जैसा कि वेद के निम्नलिखित मंत्र से स्पष्ट है।

"जीवेम शरदः शतम
पश्येम शरदः शतम
शृणुयाम शरदः शतम........"

मनुष्य की इस १०० वर्ष की अपेक्षित परमायु को भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत चार भागों में विभक्त किया गया है जो आश्रम के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, तथा सन्यास हैं। इनके अन्तर्गत मनुष्य जगत की प्रत्येक वस्तु का भोग सुचारु रूप से कर सकता है और अंत में ब्रह्म की भी प्राप्ति कर सकता है—

**ब्रह्मचर्याश्रम—**

इसमें गुरु-शिष्य के व्यवहार की उत्कृष्टता है। इस अवस्था में शिष्य सांसारिक प्रपंचों से दूर गुरू के पास रहकर वेदाध्ययन करता है और अक्षरशः उसकी आज्ञा का पालन करता है जिसके बदले में गुरू शिष्य को पठन पाठन द्वारा अपने आगामी जीवन को प्रशस्त बनाने का उपदेश देता है। शिष्य के लिये उस अवस्था में कुछ महान उपदेश थे[1] जिनका पालन करना उसके लिये परमावश्यक था। इसकी अवधि २५ वर्ष की आयु तक थी।

---

१—मातृदेवो भव, पितृदेव भव, आचार्यदेवो भव।

**गृहस्थाश्रम—**

अपने जीवन के २५ वर्ष व्यतीत कर लेने पर शिष्य विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में सांसारिक व्यक्तिगत सम्बन्धों का निर्वाह अपेक्षित था। भारतीय संस्कृति के अनुसार गृहस्थ के लिये अनेक उपदेश हैं जिनमें पति-पत्नी का, ज्येष्ठ-लघु भ्राता का तथा सम्बन्धियों के परस्पर आदर्श का और पत्नी के हितार्थ पातिव्रत धर्म का उपदेश है। अतः ब्रह्मचर्यावस्था में जो मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास हुआ था उसी के आलोक में गृहस्थ पुरुष कर्म का सम्पादन करता है।

इसके अतिरिक्त गृहस्थ को वृद्धों का तथा स्त्रियों का आदर करना चाहिये। भारतीय संस्कृति के मध्य वृद्ध पूजा तथा नारी के गौरव को उच्च स्थान प्राप्त है। वृद्ध पूजा से आयु, विद्या, बल, तथा यश की प्राप्ति होती है।[1] स्त्रियों के प्रसन्न रहने पर देवता भी प्रसन्न रहते हैं[2]।

भारतीय संस्कृति के अनुसार गृहस्थ के लिये धर्मनिष्ठ पुत्र की प्राप्ति भी परमावश्यक है क्योंकि जब तक वह पुत्र की प्राप्ति कर उसे अपने ही समान योग्य नहीं बना देता तब तक वह तीन प्रकार के ऋणों[3] के अन्तर्गत आए हुए पितृ ऋण से उऋण नहीं होता।

**वानप्रस्थ—**

गृहस्थाश्रम में मानव की बुद्धि कुछ अंश तक सांसारिक हो जाती हैं और पचास वर्ष की आयु प्राप्त करने पर उसकी अवस्था ढलने लगती है। उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयास करे। अतः अपनी बुद्धि को शुद्ध करने के लिये सांसारिकता से दूर हटना ही उसका मुख्य ध्येय हो जाता है। इसीलिये हमारी संस्कृति ने वानप्रस्थाश्रम की स्थापना की। यह मनुष्य को सांसारिकता से एक दम दूर हटा कर ब्रह्म की ओर अग्रसर करने में सहायक होता

---

१—"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥"

२—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"

३—देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण।

है। यही इसकी विशेषता है। इस आश्रम में प्रवेश करने पर मनुष्य गृह त्याग कर बन में जाकर आरण्यक एवं उपनिषदों का अध्ययन करता है। २५ वर्ष तक वह इन्हीं धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन कर अपने मन को एकाग्र कर लेता है। इस आश्रम की अवधि ७५ वर्ष की आयु प्राप्त करने तक समाप्त हो जाती है।

**सन्यासाश्रम—**

जब मनुष्य का मन बिल्कुल असांसारिक हो जाता है तब वह सन्यासाश्रम में प्रवेश कर उपनिषदों आदि के अनुशीलन द्वारा अध्यात्म विद्या की प्राप्ति कर ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था द्वारा प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों ही मार्गों का सम्पादन हो जाता है।

हिन्दुओं की साधना शैली भी भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता है। इस साधना शैली के अन्तर्गत अनेक योगों का उल्लेख है यथा – मंत्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग एवं भक्ति की अनेक प्रक्रियायें। ये मनुष्य को ब्रह्म की प्राप्ति कराने में समर्थ होती हैं। इसके अतिरिक्त निष्कामता का पाठ पढ़ाकर यह प्रत्येक क्षेत्र को ही उपासनामय बना देती हैं। इन समस्त साधनों का व्यक्ति अपनी रुचि के अनुकूल ही अभ्यास करके तथा उनके नियमों का पूर्ण रूप से अनुसरण कर ब्रह्म तक पहुँचने के लिये अपना मार्ग प्रशस्त बना सकता है। अतः उपासना शैली द्वारा भी मनुष्य ईश्वर की ओर अग्रसर होता है।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत सम्पूर्ण हिंदू जाति के लिए समान स्थान है। इसके अनुसार उच्चतम अथवा निम्नतम श्रेणी का हिंदू अपने कर्तव्यों का तथा संस्कृति में वर्णित नियमों का उचित रूप से पालन करता हुआ ब्रह्म तक पहुँच सकता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में ब्रह्म का अंश विद्यमान है।[1]

भारतीय संस्कृति मानव समाज का हित चाहती है। उसके अनुसार प्रत्येक को अपने कर्मानुसार जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने का अधिकार है। अतः हिंदू संस्कृति सर्व कल्याणकारिणी है।

संस्कार शब्द प्रायः संस्कृति का ही समानार्थी है। अतः हिंदू संस्कृति में संस्कारों की अत्यधिक मान्यता है। भारतीय संस्कृति में प्रत्येक मानव को एक आदर्श तथा सफल व्यक्ति बनाने की चेष्टा निहित है। मनुष्य के

१—'अहं ब्रह्मास्मि'

जीवन में अनेक संस्कार होते हैं। संस्कारों द्वारा जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक प्रकार के विकार को दूर किया जाता है जिससे मानव चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। अतः गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह तथा अन्त्येष्टि आदि संस्कार भारतीय संस्कृति में एक महान उपयोगी स्थान ग्रहण करते हैं।

आत्मा की अखण्डता—

भारतीय संस्कृति आत्मा को अजर तथा अमर मानती है। उसका विश्वास है कि इसे कोई नष्ट नहीं कर सकता।[1] यह आत्मा उसी प्रकार अपने जीर्ण शरीर का त्याग कर नया शरीर धारण करती है जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र को त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है।[2] इसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त हुए व्यक्ति का पथ सुगम बनाने के लिये तथा उसके कष्टों को निवारण करने के लिये हिंदू संस्कृति के अन्तर्गत तर्पण तथा श्राद्ध आदि का विधान है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति के आदर्शों पर दृष्टिपात करने पर हम यही कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति सर्व-कल्याणमयी तथा अन्य संस्कृतियों की जननी है और अपनी महती विशेषताओं के कारण विश्व के अनन्त इतिहास में इसका नाम अजर अमर रहेगा।

———

१—"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥" (गीता २।२३)

२—"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥"
(गीता २।२२)